श्रीमद् भगवद्

गीता

आधारित

150 प्रश्नोत्तर

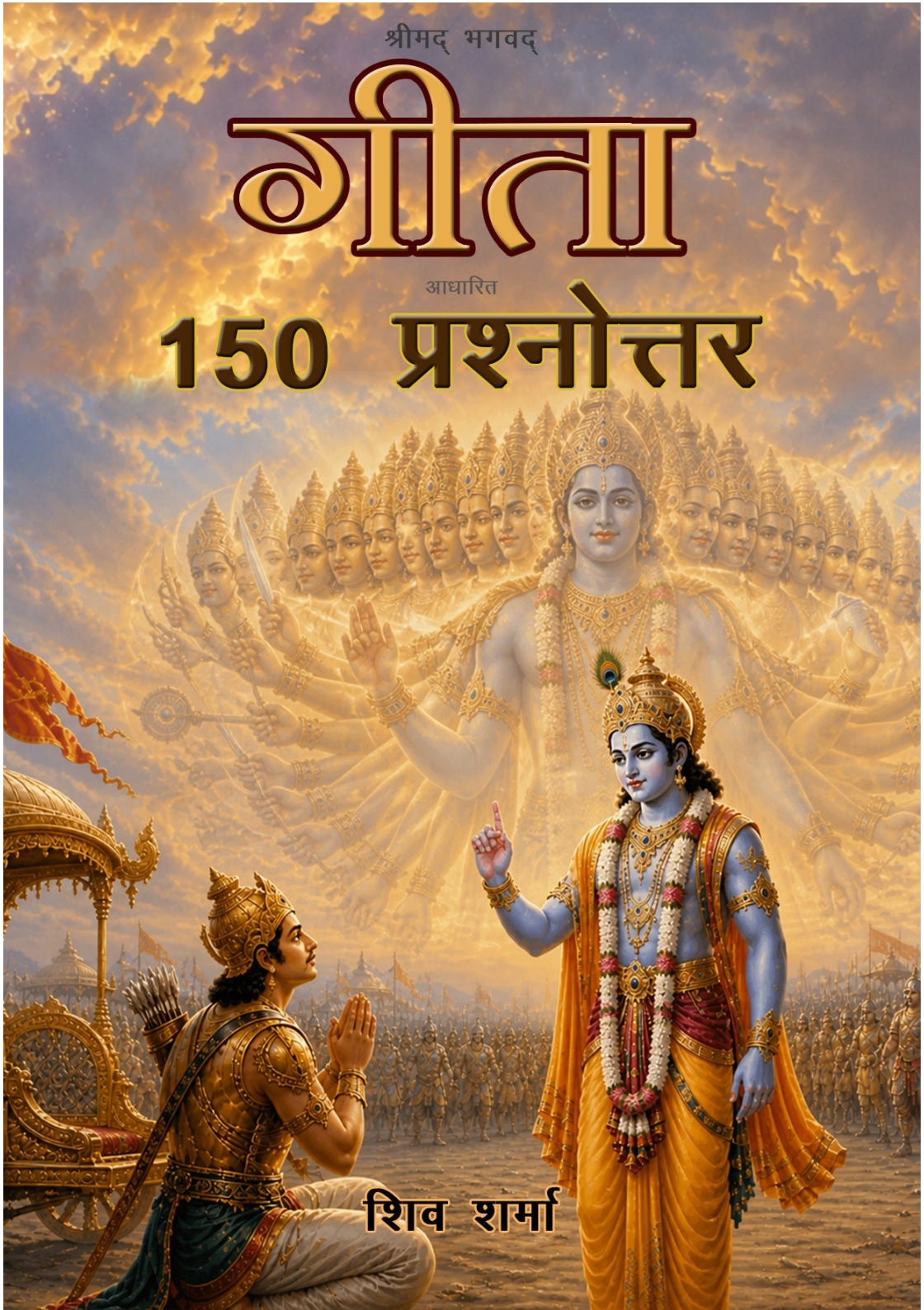

शिव शर्मा

गीता - 150 प्रश्नोत्तर

(सूफी संत हजरत हरप्रसाद मिश्रा 'उवैसी' से मनोसंवाद के आधार पर)

प्रस्तुति : शिव शर्मा

प्रकाशक

परा वाणी, 217, प्रगति नगर, कोटड़ा। अजमेर

शीर्षक - गीता - 150 प्रश्नोत्तर

लेखक - शिव शर्मा. 217, प्रगति नगर, कोटड़ा, अजमेर।
मो. - (91) 9252270562, 9588927938
www.geetaandadhyatm.com

प्रथम संस्करण – 2013

मूल्य – 100 रुपये मात्र

प्रकाशक - परा वाणी प्रकाशन, 217, प्रगति नगर, कोटड़ा, अजमेर।
(सर्वाधिकार सुरक्षित)

भूमिका

यह पुस्तक भी मेरे भीतर आलोकित गुरु-चेतना का परिणाम है। गुरुदेव की इच्छा थी कि प्रश्नोत्तर शैली में गीता की गूढ़ विषय वस्तु का एकदम सरल ढंग से प्रतिपादन किया जाए। कारण यह कि अधिकतर लोग गीता को कठिन समझकर पढ़ते ही नहीं हैं। जो पढ़ते हैं उनमें भी अनेक स्त्री-पुरुष किसी धार्मिक उद्देश्य से इसके किसी अध्याय का पाठ कर लेते हैं। तो गुरुदेव सामान्यजन में गीता के प्रति लगन विकसित करना चाहते थे। इस ग्रन्थ के हिन्दी में अनेक अनुवाद उपलब्ध हैं किन्तु उनमें भी पारिभाषिक दार्शनिक शब्दों को बहुत कम स्पष्ट किया गया है। अतः वह अनुवाद भी कठिन लगता है। फिर गीता की विषयवस्तु को लेकर भी सामान्य लोगों में असमंजस है जो दूर होना चाहिए।

1. एक पढ़े-लिखे सज्जन ने कहा कि हम तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश को ही सर्वोच्च भगवान मानते हैं; तो श्रीकृष्ण उनसे बड़े कैसे हो गए? गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे ही पर ब्रह्म हैं, वे ही परमात्मा हैं; यह बात शिक्षित लोगों की समझ में भी नहीं आती है।

2. एक उच्च प्रशासनिक अधिकारी ने कहा कि मेरे तो इष्ट महादेव हैं; मैं श्रीकृष्ण को ही सब कुछ कैसे मान लूं? इसलिये मैं गीता नहीं पढ़ता हूं।

3. अधिकतर लोग शिवजी, हनुमानजी, गणेशजी, देवी आदि की भक्ति करते हैं। उनके मनोरथ भी पूर्ण होते हैं। उधर गीता कहती है कि इन देवी-देवताओं की पूजा करने वालों को मोक्ष नहीं मिलता है। यह बात भी लोगों के गले नहीं उतरती है।

4. प्रकृति क्या है? त्रिगुण क्या हैं? क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ क्या हैं? प्रकृति से मनुष्य का जन्म कैसे हो जाता है? प्रकृति के तत्वों से मनुष्य का स्वभाव कैसे बन जाता है? .....ऐसे अनेक प्रश्न हैं जो मनुष्य की समझ में नहीं आते हैं। इसलिये भी लोग गीता से दूर हट जाते हैं।

5. गीता में यज्ञ संबंधी वर्णन तो कठिन है ही, इसी भांति कर्म, अकर्म, विकर्म और निष्काम कर्म के विषय में भी लोग असमंजस में हैं। वे तो स्पष्ट कह देते हैं कि निष्काम कर्म सम्भव ही नहीं है। जिसकी ऐसी धारणा है वह गीता कैसे पढ़ेगा?

6. गीता में पुनर्जन्म का आधार संस्कारों को माना गया है। अब, स्त्री-पुरुषों को यह बात समझ में नहीं आती है कि जब मृत देह को जला दिया जाता है या जमीन में दफना दिया जाता है तो फिर ये संस्कार कहाँ रह जाते हैं। ये अगले जन्म में हमारे साथ कैसे जाते हैं। इस तरह की बातें गीता में बहुत अधिक की गई हैं किन्तु सामान्य जन की समझ में नहीं आती हैं।

कुल मिलाकर इस तरह की समझ में न आने वाली बातों के कारण लोग गीता से दूर हो जाते हैं। इसलिये गुरुदेव का कहना था कि सारी भ्रान्तियों को दूर करो और दार्शनिक शब्दावली को स्पष्ट रूप से समझाओ। यह बात सही भी है कि जब तक ब्रह्म, प्रकृति, माया, आत्मा, जीवात्मा, सूक्ष्म देह, कारण शरीर, संस्कार आदि पारिभाषिक शब्द पूरी तरह से स्पष्ट नहीं होंगे तब तक गीता की विषय वस्तु समझ में नहीं आएगी। अतः इस पुस्तक में हमने यही प्रयास किया है। मनुष्य के मन में उपर्युक्त बातों को लेकर जितने भी प्रश्न उठ सकते हैं उनके जवाब प्रस्तुत पुस्तक में उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया गया है। गुरुदेव की कृपा से हमने यह कोशिश की है। हम चाहते हैं कि हमारे देश के सामान्य लोग गीता को कठिन समझकर इसकी उपेक्षा नहीं करें। वे यह विश्वास करें कि गीता हमें जीवन की पूर्णता तक ले जाती है। गीता में बताए गए मार्ग के अनुसार जीवन व्यतीत करना कठिन नहीं है। यह हमें मानव जीवन की सार्थकता समझाकर उस राह पर आगे बढ़ाती है। गीता हमें इस संसार के पूरे सिस्टम को समझाती है और हमारे मन में कसक पैदा करती है कि हम इस मनुष्य जीवन का अधिकतम उपयोग करें।

पुस्तक में कुल 150 प्रश्नोत्तर हैं। इसके अलावा अन्तिम अध्याय में दो बातें विशेष रूप से स्पष्ट की गई हैं - 1. परब्रह्म तो चेतन शक्ति है जिसे आप चाहे जो नाम देकर अपनी तसल्ली कर सकते हैं; उसे श्रीकृष्ण कह दो, महादेव कह दो, आद्य शक्ति कह दो या खुदा कह दो। 2. प्रारब्ध ही सबकुछ नहीं है। मनुष्य को बुद्धि के माध्यम से अपार विचार शक्ति मिली है। वह इस शक्ति का उपयोग करने के लिये स्वतंत्र है। इसलिये यह मत समझिये कि मनुष्य अपने प्रारब्ध का गुलाम है। गीता तो बार-बार ललकारती है कि उठो! अपना कर्तव्य करो! मृत्यु से डरो मत और कर्म करते हुए मनुष्य जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करो। गीता इसकी राह भी बताती है।

इस पुस्तक के प्रश्नोत्तर गीता को समझने में और उसके प्रति रुचि जागृत करने में सहायक हो सकें, मेरे गुरुदेव की यही शुभकामना है।

जय श्रीकृष्ण!

शिव शर्मा
217, प्रगति नगर,
कोटड़ा, अजमेर।
मो. - (91) 9252270562
9588927938

गीता - प्रश्नोत्तरी

गीता, श्रीकृष्ण तथा वेद व्यास

1. 'गीता' का क्या अर्थ है?
2. गीता - ज्ञान किस ग्रन्थ से लिया गया है? उसके रचयिता कौन थे?
3. गीता ज्ञान का अर्जुन पर क्या प्रभाव पड़ा?
4. पहले अर्जुन मोह ग्रस्त क्यों हो गया था?
5. गीता का उपदेश श्रव्य था या दृश्य?
6. गीता के पठन-पाठन व चिन्तन-मनन का क्या महत्व बताया गया है?
7. गीता का मूल उपदेश क्या है?
8. श्रीकृष्ण कौन थे?
9. श्रीकृष्ण ने केवल अर्जुन को ही गीता का उपदेश क्यों दिया था?
10. वेदव्यास कौन थे?

ब्रह्म, जीवात्मा और प्रकृति

11. ब्रह्म क्या है?
12. 'आत्मा' किसे कहा गया है?
13. 'जीवात्मा' किसे माना गया है?
14. 'प्रकृति' के विषय में गीता क्या कहती है?
15. 'क्षेत्र' का क्या तात्पर्य है?
16. 'काल' क्या है?
17. प्रकृति के 'त्रिगुण' क्या हैं?
18. 'पंच महाभूत' किसे कहते हैं?
19. हमारी इन्द्रियों के 'विषय' क्या हैं?
20. 'अन्तःकरण' किसे कहते हैं?

कर्म, अकर्म, विकर्म और निष्काम कर्म

21. श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पहली बात क्या कही?
22. मनुष्य और आत्मा के विषय में श्रीकृष्ण ने क्या कहा?
23. 'कर्म' के संदर्भ में भगवान ने क्या कहा?
24. कर्म, निष्काम कर्म, विकर्म और अकर्म के गीता में क्या अर्थ बताये गये हैं?
25. मनुष्य से कर्म एवं पाप कर्म कौन कराता है?

26. कर्म कौन करता है?
27. कर्म संग्रह के तीन तत्व कौन से हैं?
28. किसी भी कर्म के सिद्ध होने में पांच हेतु कौन-कौन से बताए गए हैं?
29. भोग कर्म कैसे उत्पन्न होते हैं?
30. श्रौत कर्म और स्मार्त कर्म क्या हैं?
31. 'प्राण' से क्या तात्पर्य है?
32. भगवान स्थूल आँखों से क्यों 'नहीं' दिखते?
33. परमात्मा का निवास स्थान कहाँ है?
34. ब्रह्म के तीन नाम कौन से बताए गए हैं?
35. ब्रह्मा का कल्प किसे कहा गया है?

ज्ञान, भक्ति, पुनर्जन्म

36. कर्मयोग सरल है या ज्ञान योग?
37. ज्ञानी अर्थात् स्थित प्रज्ञ किसे कहा गया है?
38. भक्त कितने प्रकार के बताए गए हैं?
39. तपस्वी, कर्मी, ज्ञानी और योगी में क्या अन्तर है?
40. सामान्य मनुष्य के लिये सगुण निर्गुण में से कौन सी भक्ति श्रेष्ठ बताई गई है?
41. सहज भक्ति करने वाले मनुष्यों के लिये गीता में क्या कहा गया है?
42. क्या संसार का त्याग कर देना ही सन्यास है?
43. योग का क्या अर्थ है? योगी किसे कहा गया है?
44. प्रकृति का घेरा हमें कैसे प्रभावित करता है?
45. स्मृति और विस्मृति क्या है?
46. पुनर्जन्म क्यों व कैसे होता है?
47. कर्मफल का हिसाब-किताब कौन रखता है?
48. भगवान अवतार क्यों लेते हैं?
49. इन्द्रियों को वश में करने के लिये गीता में कौन सा उपाय बताया गया है?
50. मनुष्य अपना ही मित्र व शत्रु कैसे हो जाता है?
51. संत-महात्माओं के लिए श्रीकृष्ण ने क्या कहा है?
52. भगवान गीता में बार-बार कहते हैं कि मेरी शरण में आ जा। 'शरण' में आने का क्या अर्थ है?
53. पापियों को भगवान कौन सा आश्वासन देते हैं?
54. सब मनुष्यों का स्वभाव अलग-अलग होता है; तो फिर वे एक जैसी ही भक्ति कैसे करेंगे?
55. मनुष्यों में दैवी और आसुरी सम्पदा क्या होती है?

56. गीता में नरक के द्वार किन्हें बताया गया है?
57. गीता में ब्रह्मा किसे कहा गया है?
58. ज्ञान रूपी यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ क्यों बताया है?
59. पन्द्रहवें अध्याय में भगवान को पुरुषोत्तम क्यों कहा गया है?
60. हमारे ज्ञान का शत्रु किसे कहा गया है?
61. कौन से मनुष्यों का परमार्थ भ्रष्ट हो जाता है?
62. 'ॐ' के विषय में श्रीकृष्ण ने क्या कहा है?

भगवान, जीव, संस्कार व परमगति

63. भगवान का ध्यान कैसे करें?
64. चतुर्भुज रूप के ईश्वरीय दर्शन किस तरह सम्भव है?
65. मनुष्य में अहंकार कहाँ से आता है?
66. जीवों को उत्पन्न कौन करता है - ब्रह्म या ब्रह्मा?
67. मनुष्य स्वर्ग या नरकगामी किस आधार पर होता है?
68. परम गति किसे कहा गया है?
69. ब्रह्म अवस्था में विचरण का क्या अर्थ है?
70. चित्त क्या है ? इसमें संस्कारों का संचय किस तरह होता है।
71. क्या श्रीकृष्ण से पहले भी यह मोक्ष ज्ञान प्रचलित था?
72. चौथे अध्याय के अनुसार साधना के चार तत्व कौन से हैं?

दुःख, सुख, जप, धर्म व अध्यात्म

73. ज्ञान की अग्नि से कर्म कैसे भस्म हो जाते हैं?
74. कर्म, ज्ञान व भक्ति के विषय में निर्णायक रूप से गीता क्या कहती है?
75. त्रिताप कौन-कौन से हैं?
76. दसवें अध्याय में आए ऋषि, महर्षि व देवर्षि में क्या अंतर है?
77. कर्ताभिमान एवं भोक्ता भाव का क्या तात्पर्य है?
78. अनन्य भक्ति किसे कहा गया है?
79. जप को यज्ञ क्यों कहा है?
80. देवता और महर्षि भी श्रीकृष्ण के परब्रह्म रूप को नहीं जानते - ऐसा क्यों कहा है?
81. चित्त को परमात्मा में लगाने के लिए मनुष्य क्या करें?
82. श्रीकृष्ण ने स्वयं को पितरों में अर्यमा क्यों कहा?
83. श्रीकृष्ण ने स्वयं को राम क्यों कहा?

84. क्या श्रीकृष्ण सनातन हैं?
85. क्या हर जन्म में मनुष्य को नए सिरे से आराधना शुरू करनी होती है?
86. साधना से भ्रष्ट हो गए मनुष्यों की क्या दुर्गति होती है?
87. निष्कर्मता क्या है?
88. तप किसे कहा गया है?
89. सृष्टि चक्र क्या है?
90. अध्यात्म, अधिभूत और अधियज्ञ किसे माना गया है?
91. गीता में धर्म किसे कहते है?
92. श्रीकृष्ण की विभूतियों का क्या तात्पर्य है?
93. हमें स्वधर्म में कौन लगाता है?
94. शम, दम और अपरिग्रह के क्या अर्थ है?
95. प्रलय का क्या अर्थ होता है?
96. ब्रह्माण्ड संबंधी पौराणिक परिकल्पना क्या है?
97. अविद्या किसे कहते हैं? यह कितने प्रकार की बताई गई है?
98. पहले अध्याय के पहले ही श्लोक में कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र क्यों कहा है?
99. विश्वरूप का क्या अर्थ है?
100. 'परमधाम' किसे कहा गया है?
101. योगी देह त्याग कैसे करते हैं?

संकल्प, संसार और मोक्ष

102. संकल्प का क्या अर्थ है?
103. ब्रह्मचारी का क्या तात्पर्य है?
104. मोक्ष क्या है?
105. कौन-कौन सी योनियों में जीवन प्रवाहमान बताया गया है?
106. स्वाभाविक कर्म का क्या अर्थ है?
107. ब्रह्मभूत किसे कहा गया है?
108. क्या गृहस्थ भी योगी हो सकता है?
109. मनुष्य किस दृष्टि से परवश है?
110. कौनसा धर्म श्रेष्ठ है?
111. संसार क्या है?
112. तामसी बुद्धि किसे कहा गया है?
113. सकामी मनुष्यों की बुद्धि कैसी होती है?

114. समत्व भाव को योग क्यों कहा है?
115. सुख क्या है?
116. मनुष्य के सबसे बड़े शत्रु कौन और क्यों हैं?
117. द्रव्य यज्ञ की सीमा क्या है?
118. आसक्ति हमारा पतन कैसे करती है?
119. तो आसक्ति का त्याग कैसे करें?
120. मुनि किसे कहा गया है?
121. सच्चिदानन्द का क्या अर्थ है?
122. क्या भूखे रहने से ही योग सिद्ध होता है?
123. सूक्ष्म बुद्धि किसे कहा गया है?
124. गीता के अनुसार सर्वात्मवाद क्या है?
125. संसार से विरक्ति का सही अर्थ क्या है?

दक्षिणायण और उत्तरायण

126. दक्षिणायन और उत्तरायण मार्ग का क्या तात्पर्य है?
127. श्रीकृष्ण ने परमश्रेष्ठ योगी किसे कहा है?
128. तत्काल सद्गति का क्या उपाय है?
129. सात महर्षि चार सनकादि व 14 मनुओं के नाम क्या हैं?
130. नवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'मैं अमृत भी हूँ और मृत्यु भी; सत् भी हूँ और असत् भी।' यह कैसे?
131. यज्ञ हमें कौन से पापों से पवित्र करते हैं?
132. ईश्वर की संकल्प शक्ति क्या है?
133. सब भूतों का सनातन कारण परमात्मा को क्यों कहा गया है?
134. माया को अलौकिक व दुस्तर क्यों कहा है?
135. बारहवें अध्याय में आत्मोद्धार के कौन से चार उपाय बताए गए हैं?
136. परम शांति को प्राप्त मनुष्य कैसा होता है?
137. बुद्धि के आठ रूप कौन-कौन से होते हैं?
138. तेरहवें अध्याय में जीव-जगत को क्षण भंगुर क्यों कहा है?
139. आत्मा से ही सम्पूर्ण जगत प्रकाशित है; कैसे?
140. मनुष्य की तरह उसका कर्म भी नश्वर है; फिर इसके परिणामस्वरूप अनश्वर मोक्ष कैसे मिल जाता है?
141. मृत्यु क्या है?

142. श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मेरा न कोई प्रिय है न अप्रिय'। यह कैसे?
143. दुष्ट किस तरह के लोगों को कहा गया है?
144. दूसरे अध्याय में धर्म युद्ध को स्वर्ग का खुला द्वार क्यों कहा है?
145. क्या ज्ञान भी तामसिक हो सकता है? कैसे?
146. दोष युक्त होने पर भी सहज कर्म नहीं छोड़ने चाहिए; क्यों?
147. योगियों के कुल में जन्म लेने से क्या तात्पर्य है?
148. गीता की विषय वस्तु के मोटे-मोटे पांच भाग कौन-कौन से हैं?
149. गीता में 'पुरुष' का क्या अर्थ है?
150. 'अनुगीता' क्या है?

➡ कुछ विशेष

➡ लेखक परिचय - श्री शिव शर्मा

गीता, श्रीकृष्ण तथा वेदव्यास

सबसे पहले गीता का अर्थ, उसके महत्व, संदेश, उपदेशक श्रीकृष्ण व इसे लिपिबद्ध करने वाले महर्षि वेदव्यास के विषय में जानना जरूरी है। अतः सामान्य पाठकों के लिए इन सब का परिचय प्रस्तुत है।

प्रश्नोत्तर

प्र. 1 'गीता' का क्या अर्थ है?
उत्तर - गीता शब्द का अर्थ है गायन किया हुआ। भगवान ने अर्जुन को उपदेश देते वक्त ये सात सौ श्लोक गायन विधि से उच्चारित किए थे। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता' रखा गया। यह परमात्मा की महिमा का गान है। गीता महात्म्य में भी कहा गया है कि 'एकं शास्त्र देवकीपुत्र गीतम्' अर्थात- एक ही शास्त्र है जो देवकी माता के पुत्र वासुदेव श्रीकृष्ण ने गायन किया था।

प्र. 2 गीता - ज्ञान किस ग्रन्थ से लिया गया है? उसके रचयिता कौन थे?
उत्तर - ब्रह्मर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास द्वारा रचित 'महाभारत' ग्रन्थ के 'भीष्मपर्व' से यह गीता ज्ञान लिया गया है। उक्त ग्रन्थ से इसे अलग करके स्वतंत्र ग्रन्थ का रूप आदि शंकराचार्य ने दिया था। गीता पर शांकर भाष्य बहुत विख्यात है।

प्र. 3 इस गीता ज्ञान का अर्जुन पर क्या प्रभाव पड़ा?
उत्तर - मोह ग्रस्त अर्जुन का मोह दूर हो गया। उसके हृदय की दुर्बलता मिट गई। उसे सनातन स्मृति (मैं देह नहीं नित्य मुक्त आत्मा हूं) प्राप्त हो गई। वह युद्ध करने के लिए तैयार हो गया। **अठारहवें अध्याय के 73वें श्लोक** में अर्जुन ने कहा है कि 'हे प्रभो! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है; मैं अब स्थिर हो गया हूं। मेरे सारे संशय समाप्त हो गए हैं। अब मैं आपकी आज्ञानुसार युद्ध करने के लिए तैयार हूं।'

प्र. 4 तो पहले अर्जुन मोह ग्रस्त क्यों हो गया था?
उत्तर - प्रतिपक्ष की सेना में पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य व कृपाचार्य तथा अन्य रिश्तेदारों को देखकर वह भावुक हो गया था - क्या राज्य प्राप्ति के लिए इनसे युद्ध करना होगा? उसे याद आया कि वह पितामह की गोद में बैठता था, उनके कक्ष में खेलता - कूदता था, उनके कंधे पर बैठता था; उसे याद आया कि द्रोणाचार्य ने उसे पुत्र

मानकर धनुर्विद्या का सम्पूर्ण ज्ञान दिया था। यह सोच कर वह उनके प्रति मोह ग्रस्त हो गया - अरे! ये तो पूज्यनीय हैं, इन्हें कैसे मारूं। मेरे भाई - चाचा व अन्य संबंधियों पर मारान्तक तीर कैसे चलाऊं? इन सब के साथ बचपन से लेकर अभी तक घटित सैकड़ों घटनाएं दृश्यमान हो गईं। इस कारण वह मोह ग्रस्त हो गया था।

प्र.5 गीता का उपदेश श्रव्य था या दृश्य?

उत्तर - परमहंस, श्यामाचरण लाहिड़ी ने इसे 'दृश्य' माना है। उनका मत है कि यह सारा उपदेश अर्जुन के भीतर घटित हुआ था। श्रीकृष्ण अपनी संकल्प शक्ति से अर्जुन को योगावस्था में ले गए और फिर उक्त सनातन ज्ञान उसके भीतर 'फिल्म' की तरह घटित कर दिया था। दिव्य दृष्टि के सहारे संजय ने भी उसे देखा। योगावस्था में घटित कोई भी बात, उक्त अवस्था में विचरने वाला कोई भी मनुष्य देख-सुन सकता है। आज भी तो टीवी के एक चैनल पर घटित कार्यक्रम पूरी दुनिया के लोग उसी चैनल को 'ऑन' करके देख सकते हैं। यदि कुरुक्षेत्र के मैदान पर यह प्रत्यक्ष तौर पर घटित होता तो उसे सभी योद्धा देखते, किन्तु ऐसा नहीं था।

अन्य अनेक विद्वान इसे श्रव्य मानते हैं - श्रीकृष्ण बोल रहे थे और अर्जुन सुन रहा था। गीता के सात सौ श्लोक बोलने में न्यूनतम पांच-छह घण्टे तो लगे ही होंगे। तो कहा जाता है कि श्रीकृष्ण ने समय के प्रवाह को रोक लिया था।

वस्तुतः पश्यन्ती वाणी के सहारे आज भी कई संत-महात्मा अपने शिष्यों के हृदय में अध्यात्म के गूढ़ ज्ञान को उजागर करते रहते हैं। तब भीतर ज्ञान का झरना बहता हुआ महसूस होता है। इसे स्मृति के आधार पर बाद में लिखा जाता है। तो विश्वरूप दर्शन वाला यह अत्यधिक रहस्यमय ज्ञान अवश्य ही अर्जुन के भीतर उजागर हुआ होगा। वेद मंत्र भी तो ऋषियों की ध्यानावस्था में प्रत्यक्ष हुए थे, इसीलिए उन्हें मंत्र-दृष्टा कहा गया है। मेरे गुरुदेव सूफी संत हज़रत हरप्रसाद मिश्रा 'उवैसी' भी कहते थे कि गीता 'परावाणी' का ज्ञान है, वैखरी (मुंह से बोलना) का नहीं। इन गुरु साहब ने ध्यानावस्था में श्रीकृष्ण के साक्षात् दर्शन किए थे।

प्र. 6 गीता के पठन-पाठन व चिन्तन-मनन का क्या महत्व बताया गया है?

उत्तर - 67वें श्लोक में इस उपदेश को अति गोपनीय एवं कल्याणकारी माना गया है। फिर 68वें श्लोक में श्री हरि कहते हैं कि जो कोई मनुष्य यह उपदेश मेरे भक्तों को सुनाएगा और इसकी व्याख्या करके इसका प्रचार करेगा उसे बैकुण्ठधाम प्राप्त होगा। यही

मेरे लिए सर्वाधिक प्रिय कार्य है। इसे करने वाले सभी पुरुष मुझे सबसे ज्यादा प्रिय हैं। इससे आगे 70-71वें श्लोकों में कहा गया है कि गीता का नित्य पाठ करने से परमात्मा के साक्षात् दर्शन होते हैं। जो लोग इस उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुनते हैं, उन्हें भी मृत्यु के बाद उच्च लोक प्राप्त होते हैं।

इस तरह पांच श्लोकों (18वें अध्याय में 67 से 71) में इसके महत्व का प्रतिपादन किया गया है।

प्र. 7 गीता का मूल उपदेश क्या है?

उत्तर - मनुष्य को स्वधर्म वाले कर्तव्य-कर्म करते हुए मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रेरित करना ही गीता का मूल संदेश है। यह सर्वाधिक दुर्लभ मनुष्य जीवन मात्र सांसारिक सुख भोगते हुए बार-बार मरने व जन्म लेने के लिए नहीं मिला है। इसकी सार्थकता जीवन की पूर्णता उपलब्ध करने में है। इसके लिए भगवान श्रीकृष्ण ने तीन मार्ग बताए हैं - ज्ञानयोग, निष्काम कर्मयोग और भक्तियोग। इनमें से किसी भी एक विधि को अपनाकर मोक्ष मार्ग पर पहला कदम रखना ही मनुष्य का कर्तव्य है। जिसने इस पथ पर पहला चरण रख दिया वह कभी न कभी, किसी न किसी जन्म में आत्म साक्षात्कार अवश्य करेगा। यह आत्म साक्षात्कार, प्रभु के दर्शन अथवा मोक्ष की प्राप्ति एक ही बात है। इसके बाद जीव का पुनर्जन्म नहीं होता है।

प्र. 8 श्रीकृष्ण कौन थे?

उत्तर - पौराणिक कथन के अनुसार तो वे साक्षात् परमात्मा के महा मानवीय अवतार थे, सोलह कला निधान थे, पूर्ण परब्रह्म थे। शास्त्रीय कथन के व्यावहारिक विश्लेषण के मुताबिक वे योगेश्वर थे। योग की चरम अवस्था में विचरण करने वाले महायोगी पुरुष थे। इसका यह मतलब है कि वे त्रिगुणात्मक प्रकृति के घेरे से बाहर निकले हुए थे। वे नित्यशुद्ध परम चेतन अवस्था में रहते हुए मानवीय जीवन व्यतीत करते थे।

विश्व के इतिहास में अनेक महामानवों के उदाहरण मिलते हैं। दैहिक, बल, बौद्धिक, यौगिक व आध्यात्मिक शक्ति की दृष्टि से इन अलग-अलग क्षेत्रों में कई महामानव हुए थे, जैसे - बॉक्सर मोहम्मद अली का पंजा बावन किलो जितना भारी पड़ता था (शेर का पंजा छप्पन किलो वजन जितना भारी वार करता है)। कुंग-फू फाइटर ब्रूसली के एक्शन इतने तेज थे कि कैमरे से उनकी फोटो नहीं खींची जा सकती थी, गणितज्ञ आईन्सटीन का मस्तिष्क वैज्ञानिकों के लिए अजूबा बना हुआ है। इसी भांति आदि शंकराचार्य की अद्भुत

विद्वता! कबीर, रैदास, रामकृष्ण परमहंस आदि की आध्यात्मिक शक्ति भी ऐतिहासिक आश्चर्य है। ऐसे अन्य अनेक दृष्टान्त हैं जिनके विवरण की यहाँ आवश्यकता नहीं है। तो श्रीकृष्ण इन सबसे कई गुना अधिक समग्र शक्ति सम्पन्न थे। श्रीराम आचार्य ने हिमालय की बर्फीली गुफाओं में रहने वाले ऐसे कई महात्माओं के दर्शन किए थे जिनकी उम्र एक हजार से लेकर ढाई हजार वर्ष तक थी। उनकी आध्यात्मिक शक्ति घोर आश्चर्यजनक थी। ऐसे ही महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ जी (बनारस विश्व विद्यालय में प्रोफेसर थे) सूर्य विज्ञान के ज्ञाता थे। वे स्वयं विस्मयकारी रूहानी क्षमताओं से सम्पन्न थे। उन्होंने अपनी पुस्तकों में (विशेषकर ज्ञानगंज में) हिमालय वासी जिन भिक्षुओं के उल्लेख किए हैं वे सभी परमहंस शक्तियों से सम्पन्न थे। यह तो 19-20वीं सदी का सत्य है। तो जब आज भी अत्यधिक आश्चर्यमय शक्तिओं से सम्पन्न साधु महात्मा सम्भव हैं तो श्रीकृष्ण जैसे अवतारी योगेश्वर की शक्तिओं पर अविश्वास क्यों? ये भगवान श्रीकृष्ण तो आज भी साक्षात् उपस्थित हो जाते हैं, किसी भी रूप में आ जाते हैं। यह उनकी परम चेतन शक्ति का सत्य है। महाभारत काल में उन्होंने जो करिश्मे किए वे उनकी परम योग शक्ति के सत्य थे। इस तरह इनका अवतारी शरीर तो नश्वर था, जीवन भी सीमित था; किन्तु उनका निर्वाण शरीर सनातन चेतना है जो आज भी प्रत्यक्ष हो जाती है। इसके अलावा उनकी अव्यक्त सनातन चेतना तो परब्रह्म रूप है जिसके विषय में हमें कोई अनुभव नहीं है। गीता के दसवें और ग्यारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण की परम विभूतियों एवं उनके विश्वरूप का वर्णन मिलता है - श्रीकृष्ण 1. अवतारी पुरुष थे। 2. वे योगेश्वर थे। 3. सर्वोत्तम महामानव थे। 4. लीला पुरुषोत्तम के रूप में वे दिव्य बैकुण्ठ धाम में नित्य लीला करते हैं। 5. परब्रह्म के रूप में वे अव्यक्त सनातन चेतना हैं। 6. समाज का भला करने के लिए उनकी इसी अव्यक्त सनातन चेतना का अंश साधु-महात्माओं के रूप में देह धारण करता रहता है। 8. भागवत पुराण में श्रीकृष्ण के निर्गुण और सगुण रूप का विशद वर्णन मिलता है।

प्र. 9 श्रीकृष्ण ने केवल अर्जुन को ही गीता का उपदेश क्यों दिया था?

उत्तर - 1. क्योंकि मात्र अर्जुन ने ही मोहग्रस्त होकर युद्ध से इंकार किया था - दोनों तरफ की कुल 19 अक्षैहिणी सेना (लगभग 29 लाख योद्धा) के प्रतिपक्ष में लड़ने के लिए तैयार पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अपने ज्येष्ठ पिता के पुत्रों व अन्य सगे संबंधियों को देखकर मोहग्रस्त अर्जुन की आँखों में आँसू भर गये कि इन पर बाण कैसे चलाऊँ? केवल राज्य सुख के लिए इनका वध क्यों करूँ? 2. ऐसी बात अन्य किसी ने भी नहीं सोची। 3. दोनों पक्षों के सभी योद्धा मरने-मारने को अपनी नियति मान कर खड़े हुए थे। 4. अर्जुन सहित उसके अन्य चार भाइयों के पक्ष में धर्म था। इसलिए अधर्मी प्रतिपक्ष के विरुद्ध युद्ध धर्म के लिए उसे प्रेरित करना श्रीकृष्ण ने जरूरी समझा। यदि मोह ग्रस्त अर्जुन

युद्ध नहीं करता तो अधर्म जीत जाता। अधर्म का नाश करने के लिए ही तो श्रीकृष्ण ने अवतार लिया था। अतः उनका उद्देश्य भी पूर्ण नहीं होता। 5. अर्जुन ने उनकी शरण में स्वयं को अर्पित करते हुए याचना की थी कि श्रीकृष्ण उसे उसका यथोचित धर्म समझाएं। देखिए गीता में दूसरे अध्याय के सातवें श्लोक में वह कहता है कि कायरतारूप दोष मेरे भीतर मोह के कारण उत्पन्न हो गया है। इस दोष ने मेरे क्षत्रिय स्वभाव का अपहरण कर लिया है अर्थात उसे दबा दिया है। आन्तरिक मोह के कारण मेरी बुद्धि भी धर्म के विषय में भ्रमित हो गई है; मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूं कि मेरा कर्त्तव्य क्या है? इसीलिए मैं आपकी शरण में हूं। मैं आपका शिष्य हूं। मुझे उचित शिक्षा दीजिए। इसके बाद आठवें श्लोक में भी अपनी बात जारी रखते हुए अर्जुन बोलता रहा कि अपने इन श्रद्धेय और सगे-संबंधियों को मार कर मुझे जो सम्पूर्ण भूमि का राज्य मिलेगा वह मुझे नहीं चाहिए क्योंकि उससे मेरे भीतर का यह अपार शोक दूर नहीं होगा। फिर धरती के साम्राज्य की तो बात ही क्या। यदि इन सब को मारकर मुझे देवताओं के राजा इन्द्र का वैभव प्राप्त हो जाए तो भी व्यर्थ है। उससे भी मेरा यह आन्तरिक दुःख नष्ट नहीं होगा। इस शोक ने तो मेरी दसों स्थूल इंद्रियों सहित अन्तःकरण को भी सुखा दिया है; निश्चेष्ट कर दिया है। मैं पूरी तरह जड़ हो गया हूं। अतः अब आप ही कोई उपाय कीजिए?

उपयुक्त सारी बातों के समन्वित कारण स्वरूप योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सनातन ज्ञान वाला यह उपदेश दिया था।

प्र. 10 वेदव्यास कौन थे?

उत्तर - इनका नाम कृष्ण द्वैपायन था। ये ऋषि पाराशर और मत्स्यगन्धा सत्यवती के पुत्र थे। काले वर्ण के थे और द्वीप में पैदा हुए थे; इसलिए कृष्ण द्वैपायन कहलाए।
इन्हें वेद पुराण व इतिहास का पूर्ण ज्ञान था। वेदों का विभाग करने के कारण इनको वेद व्यास कहा गया। व्यास एक पीठ थी। ये 28वें व्यास थे। रामायण लिखने वाले रत्नाकर वाल्मीकि 24वें व्यास थे। आप लगभग 180 वर्ष तक जीवित रहे।

वेद व्यास ने पांच मेधावी शिष्य तैयार किए थे - 1. **पैल** इन्हें ऋग्वेद पढ़ाया 2. **वैशम्पायन** - इनको यजुर्वेद पढ़ाया 3. **जैमिनी** को सामवेद 4. **सुमन्त** को अथर्ववेद तथा 5. **रोमहर्षण** (ये सूत जाति के थे) को इतिहास-पुराण का ज्ञान दिया। कौरव - पाण्डव महायुद्ध के 40 वर्ष बाद इन्होंने 'महाभारत' ग्रन्थ की रचना की थी।

वेद व्यास ही दिव्य चक्षुधारी महात्मा थे। इन्होंने ही संजय को दिव्य दृष्टि दी थी। युद्ध से पहले माता सत्यवती को ये अपने साथ ले गये थे।

ब्रह्म, जीवात्मा और प्रकृति

गीता की विषय वस्तु समझाने के लिए उसमें समाविष्ट पारिभाषिक शब्दों के कार्य जानना भी जरूरी है - ब्रह्म, ब्रह्मा, पुरुष, प्रकृति, आत्मा, जीवात्मा, त्रिगुण, पंच महाभूत आदि। अतः आगे के कुछ प्रश्नोत्तर में यही प्रयास किया गया है।

प्र. 11 ब्रह्म क्या है?

उत्तर - ब्रह्म यानि बड़ा, सर्वव्यापी। पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त सनातन अव्यक्त चेतना का नाम ही ब्रह्म है। चेतना का मतलब है शक्ति। जिस शक्ति से दिव्य और भौतिक ब्रह्माण्ड, चाँद, सूरज, तारे, चौरासी लाख तरह के जीव आदि व्यक्त (उत्पन्न) हुए हैं वह शक्ति सनातन अव्यक्त चेतना है। ऐसी शक्ति का मालिक या शक्तिमान परब्रह्म है। इसे यूं समझो कि मनुष्य के मस्तिष्क में जितनी शक्ति है उसका चार प्रतिशत भाग ही सक्रिय रहता है; शेष 96 फीसदी शक्ति निष्क्रिय पड़ी रहती है। यदि पूरा मस्तिष्क सक्रिय हो जाए तो कल्पना कीजिए कि मनुष्य कैसा होगा? अवश्य ही वह अवतारी श्रीकृष्ण जैसा होगा। ये श्रीकृष्ण ही ब्रह्म है।

गीता में ब्रह्म शब्द का प्रयोग अलग-अलग कार्यों में कई बार हुआ है - परमात्मा (अध्याय आठवाँ श्लोक संख्या तीन और चौबीस), प्रकृति (चौदहवाँ अध्याय श्लोक 3-4), ब्रह्मा (8/17 तथा 11/37), वेद (4/ 32) तथा ब्राह्मण (18/42)।

इसके दो रूप हैं - निर्गुण या निराकार तथा सगुण या साकार। निराकार ब्रह्म ज्योति स्वरूप है और साकार ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। ज्ञानी महात्मा निराकार रूप की तथा भक्तजन साकार रूप की उपासना करते हैं। दोनों विधियों से ही परमगति मिलती है। ....तो ब्रह्म यानि परम चेतन शक्ति वाली सनातन अवस्था। जो संत-महात्मा इस अवस्था में विचरण करते हैं वे शरीरधारी ब्रह्म हैं, जैसे - ब्रह्मर्षि वशिष्ठ, अगस्त्य, वेद व्यास, **सांदीपनि**, कबीर, रामकृष्ण परमहंस आदि आदि।

प्र. 12 'आत्मा' किसे कहा गया है?

उत्तर - परमात्मा या ब्रह्म रूपी समष्टि (सर्वव्यापी) चेतना के अंश को आत्मा कहा गया है। आत्मा का निवास हमारे शरीर का हृदय स्थल है। तेरहवें अध्याय के सत्रहवें श्लोक, पंद्रहवें अध्याय के पंद्रहवें श्लोक और अठारहवें अध्याय के 61वें श्लोक में यही बात कही गई है। यह आत्मा हम जीवधारियों की चेतन शक्ति है। इसी में हमारा शरीर सक्रिय रहता

है। दूसरे अध्याय में 19वें से 25वें श्लोक तक इस आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है। यह आत्मा भी अनादि, अनन्त, अविनाशी आदि बताया गया है। यह न तो कर्ता है, न भोक्ता।

यह छोटे अंगूर के आकार जितनी ज्योति रूप से हमारे हृदय में एक शून्य (खोखले) स्थान में स्थित है। दिव्य चक्षु से ही इसको देखा जा सकता है।

प्र. 13 'जीवात्मा' किसे माना गया है?

उत्तर - अविनाशी आत्मा पर जब जीव भाव लिपट जाता है तो उसे जीवात्मा कहते हैं। जीव रूपी आत्मा बंधन युक्त कहा गया है। यह देह भाव से जकड़ा हुआ होने के कारण स्वयं को सुख-दुःख का भोक्ता मानता है। यह कर्तापन के अभिमान से घिरा हुआ रहता है। यही कारण है कि कर्मफल भोगने के लिए बार-बार विविध योनियों वाले शरीर धारण करने होते हैं। पंद्रहवें अध्याय के आठवें नौवें श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा है कि 1. जैसे वायु अपने आप गंध को ले जाती है, वैसे ही यह जीवात्मा मनुष्य के देहान्त के वक्त उसके मन (अन्तःकरण) और सूक्ष्म ज्ञानेंद्रियों को खींचकर ले जाता है। 2. इस अन्तःकरण में संस्कार संचित रहते हैं। 3. इन्हीं संस्कारों के अनुकूल नई देह में यह जीवात्मा प्रवेश करता है। 4. इस नई देह में वह पूर्व संस्कारों के अनुसार अन्तःकरण व ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से कर्मफल भोगता है। 5. जब तक जीव के सारे संस्कार समाप्त नहीं हो जाते तब तक यह जीवात्मा बार-बार जन्म लेता रहता है।

ये संस्कार कैसे समाप्त होते हैं? जीवात्मा जब देहभाव से स्वयं को मुक्त कर लेता है तब संस्कारों का नष्ट होना आरम्भ होता है। इसका मतलब यह है कि स्वयं को कर्ता मत समझो; निमित्त मान कर केवल कर्तव्य कर्म करो। स्वयं को भोक्ता भी मत मानो - फल की आसक्ति से बच कर रहो। इस तरह जीवन व्यतीत करने से पुराने संस्कार कट जाते हैं और नए संस्कार बनते नहीं है। तब अन्ततः जीवात्मा से जीव भाव अलग हो जाता है। केवल आत्मा रह जाती है और आत्मा सनातन चेतना है - न जन्मता है, न मरता है।

पंद्रहवें अध्याय के सातवें श्लोक के अनुसार यह जीवात्मा, परमात्मा का ही अंश है। किन्तु देहभाव के कारण जन्म-मरण के चक्र में भटकता रहता है। ज्यों ही यह जीव भाव से मुक्त होता है, अपने अंशी अर्थात् परमात्मा में मिल जाता हैं।

प्र. 14 'प्रकृति' के विषय में गीता क्या कहती है?

उत्तर - इस संसार को बनाने वाली भौतिक शक्ति के सूक्ष्मतम अणु को प्रकृति कहा गया है। यह जड़शक्ति है यानि अपने आप सक्रिय नहीं होती। चेतन शक्ति के सम्पर्क में आकर सक्रिय होती है। फिर महाप्रलय तक क्रियाशील रहती है। इस संसार में जितने भी भौतिक पदार्थ हैं वे सब इसी प्रकृति रूपा शक्ति के परिणाम हैं।

गीता में सातवें अध्याय के चौथे, पांचवें और छठे श्लोक में श्रीकृष्ण भगवान ने इसी बात को समझाया है - मेरी शक्ति को माया अथवा प्रकृति कहते हैं। यह अपरा और परा इन दो भागों में विभक्त है। अपरा प्रकृति के आठ भेद हैं - वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, मन, बुद्धि और अहंकार। आठ भेदों वाली यह प्रकृति जड़ शक्ति है। दूसरी परा या चेतन प्रकृति है। यह मेरी जीव रूपा शक्ति है जो इस संसार को धारण किए हुए है। इस तरह जड़-चेतन के संयोग से संसार के समस्त पदार्थ व जीव (वनस्पति, कीड़े, पशु, पक्षी व मनुष्य) उत्पन्न होते हैं। मैं (श्रीकृष्ण रूप ब्रह्म) इस जड़-चेतन का आश्रय हूँ, इससे परे हूँ और तटस्थ हूँ।

यही बात वे चौदहवें अध्याय में भी कहते हैं - यह मेरी माया शक्ति या त्रिगुणमयी प्रकृति महत् ब्रह्म रूप है। यह सम्पूर्ण चर-अचर संसार की योनि अर्थात् गर्भाधान का स्थान है। मैं उस योनि में चेतन रूप बीज को स्थापित कराता हूँ। उस जड़-चेतन के संयोग से सारे संसार की उत्पत्ति होती है। हे अर्जुन! इसे यों समझें कि प्रकृति तो गर्भधारण करने वाली माता है तथा मैं उसमें बीज को स्थापित करने वाला पिता हूँ (श्लोक संख्या तीन व चार)।

इस तरह स्पष्ट होता है कि प्रकृति यानि शक्ति या ऊर्जा। यह जड़ और चेतन, दोनों शक्तियों का संयोग हैं। जब तक जड़ व चेतन शक्तियाँ अलग-अलग रहती है तब तक दोनों ही निष्क्रिय हैं। इसे यो भी समझें कि स्त्री का अण्डाणु प्रकृति है और पुरुष का शुक्राणु चेतन शक्ति। सांख्य दर्शन में जड़-चेतन के ये ही नाम हैं। उधर धन व ऋण विद्युत दोनों के मिलने से बिजली बनती है। ऐसे ही परमाणु विखण्डन में प्रोटॉन धन शक्ति और इलेक्ट्रॉन ऋण शक्ति है: न्यूट्रॉन तटस्थ है। तो प्रकृति की एक सृजन शक्ति है। इसके आरम्भिक तीन भाव हैं।

जड़ शक्ति व चेतन शक्ति के संयोग से ही पूर्ण शक्ति बनती है। इसी से संसार व्यक्त होता है तथा इसी में लय हो जाता है। गीता के तेरहवें अध्याय में भी इसे विस्तारपूर्वक बतलाया गया है। विज्ञान के अनुसार प्रकृति की समस्त शक्ति सबसे पहले विविध गैसों के रूप में थी। फिर तरल रूप में उसका विस्तार हुआ। अन्त में ठोस पदार्थ बने। तत्पश्चात

प्राणी जगत का विकास हुआ। तब मन, बुद्धि व अहंकार के रूप में प्रकृति की ही शक्तियों से मनुष्य का अन्तःकरण बना। इस तरह आठ भेदों वाली प्रकृति की शक्तियों से समस्त संसार व्यक्त हुआ। विश्व की प्रत्येक वस्तु का अंतिम रूप गैस या ऊर्जा ही है। उधर मनुष्य का भी अंतिम सत्य चेतना है - शरीर जड़ व आत्मा चेतन। इस तरह मनुष्य भी जड़-चेतन के संयोग का परिणाम है। मृत्यु के बाद जड़ प्रकृति रूप शरीर, पंचमहाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) में मिल जाता है तथा आत्मा (चेतना) भी अन्ततः परम चेतन शक्ति में मिल जाती है। तेरहवें अध्याय के 19वें श्लोक में प्रकृति को ईश्वर की 'अनादि शब्द' शक्ति कहा गया है।

प्र. 15 'क्षेत्र' का क्या तात्पर्य है?

उत्तर - तेरहवें अध्याय के आरम्भ में भगवान ने 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' इन दो शब्दों को समझाया है। क्षेत्र यानि खेत। खेत जड़ है। यही अपरा प्रकृति है। खेत में बीज डालते हैं; तब फसल होती है। बीज चेतन शक्ति है। इस तरह क्षेत्र का अर्थ है प्रकृति और हमारा शरीर भी। इस क्षेत्र की सच्चाई जानने वाले को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। शरीर में यानि व्यष्टि स्तर पर आत्मा और समष्टि स्तर पर परमात्मा ही क्षेत्रज्ञ है। अब गड़बड़ क्या होती है? आत्मा अज्ञानवश स्वयं को शरीर मानने लगती है। यह वैसी ही मूर्खता है कि किसान खुद को खेत समझने लगे। खेत अलग, बीज अलग और किसान अलग। इसी भांति शरीर, मन तथा आत्मा भी पृथक-पृथक हैं। शरीर और मन (अन्तःकरण) के मिलने पर ही मनुष्य का पूर्ण बनता है। यह नश्वर है। क्षेत्र नश्वर है। यह सम्पूर्ण संसार नाशवान है। आकाश में चमकने वाला तारा भी सामान्यतः चालीस लाख साल में मर जाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है। वैज्ञानिकों के अनुसार पांच अरब वर्ष बाद यह हमारी पृथ्वी भी नष्ट हो जाएगी। इसीलिए गीता में भी क्षेत्र को नश्वर कहा गया है। उधर क्षेत्रज्ञ रूप आत्मा अविनाशी है, अनश्वर है। यह बार-बार विविध योनियों वाले शरीरों को कर्म संस्कारों के अनुसार धारण करता है। जब सम्पूर्ण संस्कार कट जाते हैं तब यह सनातन चेतन शक्ति रूप पर ब्रह्म से मिल जाता है। फिर उसका किसी भी योनि में जन्म नहीं होता। इस तरह क्षेत्रज्ञ को अनश्वर आत्मा के रूप में समझाया गया है।

प्र.16 'काल' क्या है?

उत्तर - 1. यह परमात्मा की नियमन शक्ति है। ग्यारहवें अध्याय में 32वें श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'मैं लोकों का नाश करने वाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय इन सब लोकों (मनुष्यों, योद्धाओं) को नष्ट करने के लिए प्रवृत हुआ हूँ। तेरे युद्ध न करने पर भी इन सबका नाश हो जाएगा।' इस तरह यह काल दुष्टों व अधर्म का पक्ष लेने वालों का

संहार करके मनुष्य लोक का नियमन करता है। 2. भागवत पुराण (तीसरा स्कन्ध, पांचवां अध्याय, 26वां श्लोक) में भी कहा गया है कि काल, ब्रह्म की परम शक्ति है। इसी शक्ति से शान्त या सम्य अवस्था वाली प्रकृति में विक्षोभ हुआ, हलचल शुरू हुई। इससे महत् तत्व व्यक्त हुआ। फिर क्रमशः आगे सृष्टि की रचना हुई। 3. विज्ञान के अनुसार इसी शक्ति से महाविस्फोट हुआ। फिर द्रव्य और प्रतिद्रव्य शक्तियां साथ-साथ फैलने लगीं। द्रव्य शक्ति से निर्माण हो रहा था तो प्रतिद्रव्य (एण्टीमैटर) से उसका नाश हो रहा था। लाखों करोड़ों साल तक यह एण्टीमैटर (काल शक्ति) विकास क्रम को बाधित करता रहा। 4. महत् तत्व को दर्शन शास्त्र में विज्ञान शक्ति कहा गया है - अज्ञान को नष्ट करने वाली। तमोगुण को दबाने वाली। तमोगुण ही काल है। काल संहार करता है - प्रकृति में भी और जीवों में भी। 5. पौराणिक कथन के अनुसार सृष्टि करने वाले ब्रह्मा रजोगुणी हैं, विष्णु पोषण करने वाली शक्ति (सतोगुण) और महेश या महादेव संहार शक्ति (तमोगुण) के प्रतीक हैं। इसीलिए शिवजी को महाकालेश्वर भी कहते हैं। 6. इस संसार में प्रतिपल निर्माण और ध्वंस साथ-साथ चल रहा है। जीव के जन्म लेते ही उसकी मृत्यु का (काल शक्ति) सिलसिला भी शुरू हो जाता है। उधर प्रकृति में भी चांद-तारे मरते हैं। आंशिक, नैमित्तिक और महाप्रलय के असर से बहुत कुछ नष्ट होता रहता है। हमारा सूर्य भी एक दिन अंततः विस्फोट से मर जाएगा। मतलब यह कि काल शक्ति का प्रवाह किसी को भी नहीं छोड़ता। 7. यह काल एक तरह की परम शक्ति है। इसका स्वभाव निरन्तर प्रवाहित होते रहना है। इसे यों समझें कि एक तरह की निरन्तर प्रवाहमान ऊर्जा ही काल है। यह ऊर्जा गले- सड़े को, आयु पूरी कर चुके जीवों को, गुण-धर्म से खोखले हो चुके पदार्थों को और समय के अन्तराल से ठण्डे होते जा रहे तारों को नष्ट करती रहती है। महाप्रलय के दौरान यही शक्ति संसार को नष्ट करके मानो अपरा प्रकृति में लीन कर देती है। फिर यह शक्ति उस शान्त प्रकृति में क्षोभ पैदा करके सृष्टि क्रम का पुनः आरम्भ करती है। 8. इस काल शक्ति का प्रवाह अन्तरिक्ष (स्पेस) में टिके हुए लाखों-करोड़ों ब्रह्माण्डों तक फैला हुआ है। विज्ञान भी कहता है कि अन्तरिक्ष में खरबों तारे हैं और पृथ्वी की तरह ही सैकड़ों धरतियों पर जीवन आबाद है। तो जहां जीवन है वहाँ और जहां जीवन नहीं है वहाँ भी काल शक्ति तो प्रवाहमान है ही। कभी यह धरती नहीं थी और इस पर जीवन भी नहीं था; लेकिन आज है। कभी मंगल ग्रह पर जीवन था; लेकिन आज नहीं है। यह सब काल शक्ति के प्रवाह का परिणाम है। 9. समय, ब्रह्माण्ड और यह हमारा संसार भी प्रवाहमान (गतिशील) है लेकिन ये सब काल प्रवाह के अधीन हैं, उसकी शक्ति के सामने लाचार हैं। 10. काल शक्ति के अनेक रूप हैं - ब्रह्माण्ड के तारों से होते रहने वाला विकिरण, प्रकृति में उत्सर्जित नुकसान कारी गैसें, आंधी-तूफान, **वात्याचक्र,** सुनामी जैसी बाढ़, भूकम्प, ज्वालामुखी आदि इसी भांति मनुष्यों में अज्ञान, तामसिक प्रवृत्तियां, पर्यावरण-प्रदूषण

खाद्य-प्रदूषण व स्वभाव-प्रदूषण से होती रहने वाली बीमारियां तथा शारीरिक डी-जेनरेशन; ये सब उदाहरण काल की नियमन शक्ति के हैं जो हमें नकारात्मक लगती है। काल का ही एक रूप मृत्यु है। इसीलिए हम सब काल से डरते हैं।

गीता में 14वें अध्याय के 16वें श्लोक में भी कहा गया है कि यह परमात्मा ही ब्रह्मा रूप से सबको उत्पन्न करने वाला, विष्णुरूप से सबको धारण करने वाला तथा रुद्र (काल) रूप से सबका संहार करने वाला है। इसका भी यही अर्थ है कि काल संहार शक्ति है।

प्र. 17 प्रकृति के 'त्रिगुण' क्या है?

उत्तर - त्रिगुण यानि तीन गुण। गुण का अर्थ यहाँ विशेषताएं, भाव या प्रवृति है। मूल प्रकृति को त्रिगुणात्मक कहने का मतलब है कि परमात्मा की यह माया शक्ति तीन तरह के अलग-अलग गुण वाली है - सात्विक, राजसिक व तामसिक। इस तरह गुण तीन माने गए हैं - सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। ये गुण प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं - एक मूल शक्ति अपरा प्रकृति। उसमें काल शक्ति से हलचल पैदा हुई। इसके परिणाम स्वरूप उक्त मूल शक्ति तीन गुणों वाली हो गई। इसे यों मान लीजिए कि अलग-अलग विशेषताओं वाली तीन शक्ति धाराएं निकलने लगीं। तत्पश्चात इस त्रिगुणात्मक प्रकृति-शक्ति से ही संसार के समस्त पदार्थों व जीवों की सृष्टि हुई। अब देखें कि इस विषय में गीता क्या कहती है।

1. अठारहवें अध्याय के 40वें श्लोक के अनुसार धरती, आकाश, स्वर्ग व अन्य समस्त लोकों के समस्त पदार्थों, प्राणियों एवं देवताओं का अस्तित्व इसी त्रिगुणात्मक प्रकृति से सम्भव हुआ है। ये सब नाशवान हैं।

2. सातवें अध्याय का 13वां श्लोक कहता है कि ये तीनों गुण प्रकृति के कार्यरूप भाव हैं। अर्थात् गुण तो प्रकृति जनित हैं और राग, द्वेष आदि भाव इन गुणों से उत्पन्न होते हैं। फिर भगवान कहते हैं कि इस रहस्य को वही मनुष्य समझ सकता है जिसको परमात्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति हो गई है।

3. तेरहवें अध्याय (19वां श्लोक) में भी कहा गया है कि सम्पूर्ण पदार्थ त्रिगुणात्मक प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। फिर (21वां श्लोक) जीवात्मा भी अपने-अपने प्राकृत स्वाभाविक गुणों के अनुसार इन पदार्थों को भोगता है। .....प्रकृति की त्रिगुणात्मक शक्ति उन लोगों को प्रभावित करती है जो देहाभिमानी हैं अर्थात् अविनाशी आत्मा की उपेक्षा करके अपनी नश्वर देह को ही सत्य मानते हैं। ऐसे अज्ञानी स्त्री-पुरुषों में यह त्रिगुण

शक्ति शरीर के प्रति ममत्व, आसक्ति और अभिमान पैदा कर देती है। मनुष्यों के जैसे पूर्व कर्म होते हैं वैसे ही इस जन्म में उनके संस्कार होते हैं। संस्कारों के अनुसार ही उनका स्वभाव सात्विक, राजसिक या तामसिक गुणों वाला होता है। उसी के अनुसार वे भोग कर्म करते हैं। उन भोग कर्मों के अनुकूल उनकी स्मृति बनती है। मृत्यु के समय इसी स्मृति के मुताबिक उन्हें विविध योनियों में अगला जन्म मिलता है। इस तरह पुनर्जन्म भी इन त्रिगुणों के कारण ही होता है।

4. इस संदर्भ में 14वां अध्याय देखते हैं। इसका पांचवां श्लोक कहता है - प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण इस अविनाशी जीवात्मा को शरीर से बांधते हैं। सतोगुण तो सुख व ज्ञान की आसक्ति से बांधता है; रजोगुण भोगवादी कर्मों की आसक्ति से और तमोगुण अज्ञान, प्रमाद, आलस्य आदि की आसक्ति से बांध कर वैसे ही कर्म कराता है। इससे आगे 14, 15 व 16वें श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि सतोगुणी स्वभाव वाला स्वर्गादि उच्च लोक प्राप्त करता है। रजोगुणी को मृत्यु के बाद पुनः मनुष्य लोक में ही जन्म मिलता है। तमोगुणी स्वभाव मनुष्य को कीट, पशु आदि तीन योनियों में पुनर्जन्म दिलाता है।

5. चौदहवें अध्याय के बीसवें श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण का कथन है कि ये तीनों गुण ही मनुष्य के स्थूल शरीरों की उत्पत्ति के कारण हैं। वस्तुतः हमारी देह तीन प्रकार के शरीरों का संगठन है - 1. भौतिक शरीर जो हमें दिखता है और प्रकृति के 23 तत्वों (पांच महाभूत, पांच तन्मात्रा, दस इन्द्रियां, मन, बुद्धि और अहंकार) से बनता है; सूक्ष्म शरीर में पंच महाभूत नहीं रहते हैं और कारण शरीर में पांच कर्मेंद्रियां भी हट जाती हैं। ये तीनों शरीर त्रिगुणात्मक होते हैं। स्थूल शरीर तो बार-बार मरता है। शेष दो शरीरों को लेकर जीवात्मा पुनर्जन्म ग्रहण करती है। जब तक मनुष्य इन त्रिगुणों से ऊपर नहीं उठता तब तक उसका पुनर्जन्म होता रहता है। इन त्रिगुणों से पार निकलने के तीन मार्ग हैं - ज्ञान, कर्म और भक्ति।

6. तीसरे अध्याय के सत्ताईस से उनतीसवें श्लोक तक भी त्रिगुणात्मक प्रकृति को समझाया गया है - मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए जाते हैं। कैसे? इस तरह कि तेइस तत्वों से तो कर्म करने वाली देह बनती है। फिर दसों इंद्रियाँ व अन्तःकरण इन गुणों के अनुसार ही परस्पर क्रिया करते रहते हैं। किन्तु अज्ञानवश जीवात्मा स्वयं को कर्त्ता मान कर जन्म-जन्मांतरों में भटकता रहता है। इस बात को और अधिक साफ-साफ समझें कि मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों से किए जाते हैं। देखिए, त्रिगुणात्मक प्रकृति से निर्मित शरीर के सारे अंग अपना काम स्वतः करते रहते हैं - आंख

देखती है, कान सुनते हैं, जीभ स्वाद लेती है, मुंह बोलता है आदि आदि। मस्तिष्क इन सब अंगों की क्रियाओं का आवश्यकतानुसार पारस्परिक प्रबंधन करता रहता है। मन इच्छा करता है, बुद्धि विचार करती है और अहंकार 'मैं' भाव से कर्म कराता है। तो ये सारे काम स्वत: होते रहते हैं। गुणों का इतना जोरदार प्रभाव है। ये गुण भी ऊर्जा ही है। ऐसी ऊर्जा जो पदार्थों का निर्माण भी करती है और मनुष्य में बोध, भाव, विचार आदि की शक्ति भी विकसित करती है।

7. गुणों के विषय में ऐसी ही बात 'भागवत पुराण' के तीसरे स्कन्ध (पांचवां अध्याय और श्लोक संख्या 17 से 26 तक) में भी समझाई गई है, जहां कहा गया है कि परब्रह्म की काल शक्ति से त्रिगुणात्मक प्रकृति (माया) में क्षोभ होता है, जिससे 'महत्' तत्व व्यक्त होता है। महत् से अहंकार तत्व और फिर आगे क्रमश: संसार की सृष्टि होती है।

8. गीता में 18वें अध्याय के 41वें श्लोक में कहा गया है कि समाज की वर्ण व्यवस्था भी त्रिगुणात्मक ही है। पूर्व कर्मों के अनुसार हमारे संस्कार बनते हैं, संस्कार से स्वभाव बनता है। जैसा स्वभाव, वैसे ही कर्म और कर्मानुसार ही मनुष्यों का ब्राह्मण - क्षत्रिय – वैश्य - शूद्र में विभाजन किया गया है। आगे के श्लोकों में इस कथन को स्पष्ट किया गया है कि 1. अन्तःकरण का संयम, इन्द्रियों का दमन, कर्म के अनुसार आचरण, क्षमाभाव, मन वचन की सरलता, शास्त्रों का ज्ञान तथा परमात्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति - ये सब ब्राह्मण के कर्म हैं 2. शौर्य, धैर्य, चतुरता, दान देना, स्वाभिमान, युद्ध से न भागना, प्रजा का शासन आदि क्षत्रिय के कर्म हैं। 3. खेती, गो-पालन, क्रय- विक्रय रूप सत्य व्यापार आदि वैश्य के कर्म हैं। 4. सब वर्णों के लिए सेवा कर्म करना शूद्र का स्वभाविक कार्य है। अब यदि ब्राह्मण अपने गुण-स्वभाव वाले नियत कर्म नहीं करता है तो वह ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी नहीं है। यह बात सभी वर्णों पर लागू होती है। वर्ण व्यवस्था कर्म प्रधान रही है, जन्म पर आधारित नहीं।

खैर, तो इस तरह गीता में प्रकृति के गुणों की व्यापक व्याख्या की गई है।

प्र. 18 'पंच महाभूत' किसे कहते हैं?

उत्तर - आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी तत्व को पंचमहाभूत कहते हैं। महाभूत का मतलब वे प्रमुख तत्व जिनसे सृष्टि के समस्त पदार्थ बने। आकाश यानि चारों तरफ का फैलाव। प्रत्येक सौरमण्डल का अपना आकाश होता है। उस खाली जगह में तारों का प्रकाश, ताप, वायु की गैसें, जल वाष्प के बादल और पृथ्वी तत्व से उत्पन्न होने वाली

वनस्पतियाँ, पहाड़ आदि फैल सकें। ध्वनि की तरंगें व प्रकाश की किरणें फैल सकें। वायु चल सके। आकाश (खाली स्थान) के बिना हवा कैसे बहेगी? समुद्र कैसे बनेंगे? इसलिए पंच महाभूतों में आकाश पहला आधारभूत तत्व है। इसका गुण-धर्म है - शब्द, महा विस्फोट, ओम की अनाहत् गुंजार आदि।

आकाश और वायु तत्व के मेल से बनी वायु.....गैसें। महाविस्फोट के तत्काल बाद हाइड्रोजन गैस के अपार बादल चारों तरफ फैल गए थे। प्रकृति में ऐसी ही प्रमुख ग्यारह गैसें हैं। कुछ अन्य अप्रमुख और इनके आपसी मिश्रण से बनने वाली गैसों को भी शामिल किया जाए तो संख्या साठ के पार चली जाती है। ये गैसें मिल कर वायु बनाती हैं। इन गैसों से अनेक खनिज पदार्थ बने थे। ऐसे ही ऑक्सीजन गैस जीवों को जीवित रखती है। ऑक्सीजन व हाइड्रोजन के संयोग से पानी बनता है। नाइट्रोजन से खाद बनती है। इस वायुमण्डल की सात परतें हैं। इसका गुण धर्म स्पर्श है।

प्रवाहशील वायु की गैसों में जो अणु-परमाणु थे, उनके घर्षण से अग्नि महातत्व व्यक्त हुआ। तारों के गर्भ में भी अग्नि है। तारों व गैसों का ताप भी अग्नि का ही रूप है। यही अग्नि तेजस रूप से हमारे शरीर में अन्न को पचाती है तथा शरीर में तेजस्विता पैदा करती है। इसी अग्नि तत्व के प्रभाव से धरती में दबे वृक्षों से कोयला बनता है। अनेक खनिज पदार्थों के निर्माण में इस अग्नि तत्व का योगदान रहा है। इस तत्व का गुण धर्म है रूप। अग्नि के कई रूप हैं और यह दृश्य शक्ति भी है।
इन तीनों तत्वों के साथ जल तत्व मिलने से जल महाभूत बना। जल में ताप, स्पर्श और शब्द ये तीनों गुण धर्म भी हैं। इसका अपना गुण है रस। विविध वनस्पतियों में यही रस गुण है। हमारे शरीर के रक्त व ग्रंथियों से स्रावित रसों में भी जल तत्व है। संसार का प्रथम जीव तत्व 'प्रोटो प्लाज़्म' भी जलीय ही है। महाप्रलय इसी जल का विकराल रूप है। हाइड्रोजन व ऑक्सीजन के परमाणुओं के द्वारा आपस में क्रिया-प्रतिक्रिया करने से इस जल महाभूत की अभिव्यक्ति हुई थी। पांचवां महाभूत है पृथ्वी। गैसीय परमाणुओं के शीतलीकरण से मिट्टी बनी। धरती बनी। इसमें शेष चारों महातत्वों के मिश्रण से यहाँ जीवन सम्भव हुआ। इस पृथ्वी तत्व का गुणधर्म है गन्ध। पहली बरसात के वक्त धरती से निकलने वाली गंध सभी को अच्छी लगती है।

इस प्रकार से पंच महाभूत अपरा प्रकृति रूपी शक्ति के ही पांच भेद हैं।

प्र. 19 हमारी इन्द्रियों के 'विषय' क्या हैं?

उत्तर - हमारी पांच ज्ञानेंद्रियाँ जिन तत्वों की तरफ भोग की नीयत से ललचाती हैं वे 'विषय' कहे गए हैं। ये भी पांच हैं - शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। हमारे कान किसी भी आवाज को सुनते हैं। गले में स्थित स्वर यंत्र के जरिए हम मुंह से बोलते हैं (यह शब्द तत्व है)। कान सुनते हैं क्योंकि शब्द या ध्वनि सुनना कान नामक इन्द्रिय का विषय है। आंखे देखती हैं, इनका विषय रूप है। त्वचा का विषय स्पर्श है। यह स्पर्श से सुख-दुख का अनुभव मस्तिष्क तक भेजती है। जीभ का विषय रस है। यह विविध भोज्य रसों का स्वाद लेती है। नाक का विषय गंध है। विश्व में छह हजार तरह की गंध ज्ञात है। इस तरह संसार की समस्त भोग सामग्री इन पांच विषयों में समाविष्ट है। इन पांच विषयों को ग्रहण करने वाली पांच ही ज्ञानेंद्रियाँ हैं - आंख, कान, नाक, त्वचा और जीभ। इन ज्ञानेंद्रियों को हमारा अन्तःकरण अपनी रुचि के पदार्थों की तरफ प्रेरित करता है और अज्ञान के संस्कारों से बंधा हुआ जीवात्मा इन भोग पदार्थों के भोग की अनुभूति करता है, इनमें आसक्त होता है।

प्र. 20 'अन्तःकरण' किसे कहते हैं?

उत्तर - हमारे इस शरीर की समस्त गतिविधियों का जो आंतरिक कारण है उसे अंतःकरण कहते हैं। 'अन्तः' यानि भीतर और 'करण' अर्थात् से - इंद्रियों को भीतर से जो भोगवादी कर्म के लिए प्रेरित करता है। जैसे - मैंने सोचा कि मैं आम खाऊँ। यह इच्छा अन्तःकरण में हुई। इसके लिए यह शरीर बाजार गया। आम लाया। हाथों ने आम को काटा। मुंह ने खाया, गले ने निगला, पेट ने पचाया। नाड़ियों ने पचे हुए आम के रस को विविध अंगों तक पहुँचा कर पोषण का काम किया। आम के वेस्ट मेटेरियल को बड़ी आँत ने गुदा मार्ग से बाहर निकाल दिया। ये सारे काम शरीर ने किए लेकिन आम की इच्छा अन्तःकरण में हुई। इस तरह भोग से योग तक के सारे कार्य इसी की प्रेरणा से होते हैं।

इस अन्तःकरण के चार हिस्से हैं - चित्, मन, बुद्धि और अहंकार। अनेक विद्वान चित्त और मन को एक ही मान कर अन्तःकरण के तीन भाग ही बताते हैं। चित्त तो ज्ञान कारक है, मन कामना कारक, बुद्धि विचार मय तथा अहंकार 'मैं' के अभिमान सहित क्रिया कारक है। ये बनते कैसे हैं? इसका जवाब शास्त्रों में यों मिलता है - महत् तत्व के सात्विक अंश से चित्, राजसिक अंश से बुद्धि और तामसिक अंश से अहंकार बनता है। महत् तत्व के सतो व रजोगुण के समन्वय से मन बनता है। किन्तु 'भागवत पुराण' के अनुसार (तीसरा स्कन्ध, पांचवा अध्याय, तीसवां श्लोक) मन की उत्पत्ति सात्विक अहंकार से मानी गई है। खैर, यह इतना अधिक सूक्ष्म और रहस्यमय विषय है कि प्रभुकृपा के बिना समझ में नहीं

आ सकता है। मुख्य बात इतनी सी है कि 1. अन्तःकरण में मन, बुद्धि और अहंकार समाविष्ट हैं 2. ये सब प्रकृति के महत् तत्व से उत्पन्न होने के कारण जड़ हैं व नाशवान हैं। 3. इसी अन्तःकरण में हमारे कर्मों से बनने वाले संस्कार संचित रहते हैं, जिनके अनुसार हमें पुनर्जन्म मिलता है। 4. यह अन्त:करण भी त्रिगुणात्मक होता है। 5. जब तक यह गुणों के प्रभाव में रहता है तब तक चंचल होता है। 6. गुणों के प्रभावी घेरे से निकल जाने के बाद ही यह स्थिर होता है तथा आत्मसाक्षात्कार करके जीव को मोक्ष की प्राप्ति कराता है। 7. यह अन्त:करण 'ब्रह्मरन्ध्र' (सिर में कपाल के नीचे) में स्थित बताया जाता है। मन का निवास मनोमय कोश, बुद्धि का विज्ञानमय कोश और अहंकार का निवास प्राणमय कोश कहा जाता है। यहाँ कोश का अर्थ आवरण या घेरा समझाना चाहिये।

मन का वर्ण चन्द्रमा जैसा श्वेत होता है। बुद्धि का नीलाभ श्वेत। शुद्ध बुद्धि एकदम श्वेत रंग की बताई जाती है। अहंकार नीला होता है। चित् हीरे की कनी जैसा सफेद माना जाता है और आत्मा तो लाखों सूर्य जैसी तेजस्वी कही गई है। आत्मा का स्थान आनन्दमय कोश (हृदय स्थल) होता है।

यह अन्तःकरण ही सारे फसाद की जड़ है। यह इतना सूक्ष्म होता है कि सरलता से पकड़ में नहीं आता है। तत्वज्ञान, निष्काम कर्मयोग अथवा भक्तियोग की कठिन साधना से ही इसे वश में किया जा सकता है। फिर भी एक सवाल कि यह अन्तःकरण क्या है? कोई अंग या ऊर्जा ? वस्तुत यह ऊर्जा केन्द्र है। महत् तत्व विराट ऊर्जा है। यह जड़-चेतन के संयोग से व्यक्त विश्वव्यापी ऊर्जा है। ब्रह्म तो शुद्ध चेतना है किन्तु यह जड़-चेतन के मिश्रण वाली शक्ति है। इसी का एक अंश अन्त:करण है। वैसे ही जैसे परमात्मा रूपी परम चेतना का अंश आत्मा होती है। विज्ञान भी ऐसा ही मानता है कि ब्रह्माण्ड में विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा फैली हुई है। यह महाविस्फोट से उत्पन्न हुई थी। यही शक्ति शरीर में प्रवेश करके जैव विद्युत के रूप में देह का संचालन करती है। यह प्राण तत्व से 'रीचार्ज' होती रहती है। शरीर से प्राण के निकलते ही यह भी पुनः विश्वव्यापी अपनी मूल ऊर्जा से मिल जाती है। तो आत्मा चेतन शक्ति है और अन्त:करण प्राकृतिक शक्ति है। ....गीता में जब-जब भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है, आप इसी अर्थ के साथ उक्त प्रसंग का भाव ग्रहण करें।

इस तरह यहाँ तक गीता को समझने के लिए प्रमुख पारिभाषिक शब्दों की पृष्ठभूमि पूरी हो जाती है।

कर्म, अकर्म, विकर्म और निष्काम कर्म

प्र. 21 श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पहली बात क्या कही?

उत्तर - दूसरे अध्याय के तीसरे श्लोक में भगवान ने उपदेशात्मक पहली बात कही कि हे परंतप! उठ कर खड़ा हो (क्योंकि वह रथ के पिछवाड़े में बैठ गया था) और युद्ध कर। इसी पंक्ति के शुरू में कहा - कायरता जैसी क्षुद्रता को त्याग क्योंकि तू क्षत्रिय है, महान धनुर्धर है और धर्म की विजय चाहने वाले लाखों लोगों की आशा तुझ पर ही टिकी हुई है। ...हृदय की इस दुर्बलता को भी छोड़। कौन सी दुर्बलता? मोह की दुर्बलता कि श्रद्धेयजन व बंधु-बांधवों को नहीं मारूंगा। मन के संशय से भी ऊपर उठ कि 'पता नहीं हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे'। भगवान तो अन्तर्यामी हैं। वे यों भी अर्जुन के मन की सम्पूर्ण उथल-पुथल जानते थे। इसलिए पहली बात में ही सब कुछ कह दिया।

प्र. 22 मनुष्य और आत्मा के विषय में श्रीकृष्ण ने क्या कहा?

उत्तर - अन्य सब जीवों की भांति ही समस्त मनुष्यों के शरीर भी नश्वर हैं। कोई किसी को नहीं मारता; सब अपनी आयु पूरी होते ही काल द्वारा मार दिए जाते हैं। हाँ, मृत्यु के निमित्त अलग-अलग कारण अवश्य ही होता है। फिर भी याद रख कि एक देह के अंत के बाद जीवात्मा को दूसरी देह मिल जाती है। शरीर के भीतर जो जीवात्मा है वह अविनाशी है। इसलिए तू निराधार मोह को त्याग। ये सारे योद्धा इस जन्म से पहले भी किसी और और रूप में थे तथा इसके बाद भी अन्य-अन्य शरीर कर्मानुसार धारण करेंगे। स्वयं तेरे भी पहले अनेक जन्म हो चुके हैं और मैं भी अनेक युगों में अवतारी देह धारण कर चुका हूँ। जीवात्मा के लिए यह शरीर तो वस्त्र बदलने की तरह है, फटा-पुराना वस्त्र फेंक कर हम जिस तरह नया वस्त्र पहनते हैं, वैसे ही जीवात्मा भी करती रहती है। लेकिन कब तक? जब तक कि वह जन्म-मरण के चक्र से न छूट जाए? (दूसरे अध्याय में श्लोक सं. 19 से 29 तक और चौथे अध्याय में श्लोक सं. 7-8)।

प्र. 23 'कर्म' के संदर्भ में भगवान ने क्या कहा ?

उत्तर - इस प्रसंग में गीता का सर्वाधिक प्रसिद्ध श्लोक है-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा, तेऽसंगोस्तकर्मणि॥

अर्थात् केवल कर्म करने पर ही तेरा अधिकार है; फल पर बिल्कुल भी नहीं। तू ऐसे कर्म भी मत कर कि जिनका फल भोगने के लिए पुनः जन्म लेना पड़े। ...किन्तु फल की चिन्ता से निराश होकर तथा पुनर्जन्म से डर कर तू कर्म ही नहीं करें; यह भी गलत है।

अब इसे विस्तारपूर्वक समझते हैं - 1. कर्म करना सबके लिए अनिवार्य है। 2. कर्म करने के लिए हम सब स्वतंत्र हैं। किंतु हम स्वधर्म वाले नियत कर्म ही करें, कर्तव्य कर्म ही करें - बस यहीं तक कर्म संबंधी अपने अधिकार को सीमित समझें। क्यों? क्योंकि अकर्त्तव्य वाले कार्य करने से इस जीवन में भी हमारा पतन हो सकता है तथा अगला जन्म तो अधोयोनि (पशु या कीड़े-मकोड़े) में होगा, यह निश्चित है। ....यह बात सम्पूर्ण मनुष्य समाज पर लागू होती है। ...फिर अर्जुन के पक्ष में यह इस तरह है - तू क्षत्रिय है। क्षत्रिय के लिए शास्त्रों में यह स्वधर्म बताया गया है कि धर्म, सत्य एवं समाज, साधु जन की रक्षा के लिए युद्ध करें। अतः तू युद्ध कर। इसका परिणाम क्या होगा? यह चिंता किए बगैर युद्ध कर।

3. ऐसा क्यों? क्योंकि किए हुए कर्म का फल मिलना तुम्हारे वश में नहीं है - कितना मिलेगा? कब मिलेगा? अभी मिलेगा या बाद में? इसी जन्म में अथवा अगले किसी जन्म में? यह सब नियति का विधान है। इसीलिए कहा गया है कि तुम फल की चिन्ता मत करो। कर्म का फल मिलना तो निश्चित है लेकिन शेष सारी बातें अनिश्चित हैं। ...अर्जुन को भगवान ने ऐसा क्यों कहा? क्योंकि उसके मन में भी दुविधा थी कि युद्ध में कौन जीतेगा? हम या विपक्षी ? (दूसरे अध्याय का छठा श्लोक)।

4. इसके बाद श्लोक की दूसरी पंक्ति में कहा गया है कि तुम कर्मों का फल भोगने के **हेतु मत बनो** - ऐसे कर्म मत करो कि जिनका फल भोगने के लिए पुनर्जन्म लेना पड़े। ...तो फिर क्या करें? कर्म तो करो किन्तु स्वयं कर्त्ता होने के अभिमान के साथ मत करो। समझो कि तुम प्रभु की प्रेरणा से कार्य कर रहे हो। इसी भांति फल की आसक्ति छोड़कर कर्म करो। यह आसक्ति ही जन्म-जन्मांतरों में भटकाती है। भगवान ने अर्जुन को समझाया कि 1. तू भूल जा कि तू पाण्डव अर्जुन है 2. कि तुझे द्यूत-क्रीड़ा के छल, लाक्षागृह के षड्यंत्र, द्रौपदी के अपमान आदि का बदला लेना है। 3. यह भी भूल जा कि इन्द्रप्रस्थ का राज्य वापस लेना है। 4. तू केवल क्षत्रिय धर्म, स्वधर्म का मूर्तरूप बन कर युद्ध कर। 5. ऐसा करने से न तो हार-जीत का संशय रहेगा और न ही विधर्मियों को मारने का पाप लगेगा। बिना अभिमान एवं आसक्ति के, किये गये किसी भी कर्म का फल कर्ता की

जीवात्मा को नहीं बांधता है, अर्थात् उससे पुनर्गामी (वापस जन्म वाले) संस्कार नहीं बनते हैं।

इस श्लोक की चौथी बात है - कर्म फल की अनिश्चितता से निराश होकर स्वधर्म अथवा कर्त्तव्य को मत छोड़; कर्म करूंगा ही नहीं, यह विचार मत कर। वैसे भी आजीवन कर्म करते रहना तो सबके लिए अनिवार्य है। भोजन, आवास, परिवार के पालन हेतु सभी को कर्म करने पड़ते हैं। जंगल में रहने वाले साधु-संन्यासी भी भोजन करने, पानी पीने, सांस लेने, मल-मूत्र त्यागने, नींद लेने, मौसमी प्रकोप से बचाव करने आदि कर्म करते ही हैं। दूसरी बात यह कि किसी भी कर्म में दोष नहीं होता है; दोष तो कर्ता की नीयत में, कर्तापन के अभिमान में व आसक्ति में होता है। अतः कर्म का त्याग मत करो।

तीसरे अध्याय के 22वें श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा है - 'मुझे तीनों लोकों में प्राप्त करने योग्य कोई भी वस्तु अप्राप्त नहीं है, फिर भी मैं इस अवतारी जीवन में कर्त्तव्य कर्म कर रहा हूं। यदि मैं ही (क) अकर्त्तव्य कर्म करूं। (ख) या कर्म करूं ही नहीं तो पीछे वाले लोग भी मेरा अनुकरण करते हुए बुरे काम करेंगे या निकम्मे हो जाएंगे'। इसलिए साधु लोगों को, श्रेष्ठ जन को व अन्य अग्रणी लोगों को कर्त्तव्य कर्म अवश्य करने चाहिए। इस तरह सम्पूर्ण गीता हमें कर्त्तव्य कर्म करने की प्रेरणा देती है।

प्र. 24 कर्म, निष्काम कर्म, विकर्म और अकर्म के गीता में क्या अर्थ बताये गये हैं?

1. कर्म - गीता में चौथे अध्याय के 23वें श्लोक की दूसरी पंक्ति में कहा गया है कि यज्ञ का आचरण ही कर्म है। पहले समझो कि गीता में यज्ञ का क्या अर्थ है? मनुष्य को परमात्मा के दर्शन करा देने वाली विधि (आराधना) का नाम यज्ञ है। इस विधि को कार्य रूप देना ही कर्म है। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए समझाया गया है कि शास्त्रों द्वारा अलग-अलग वर्ण वाले मनुष्यों के स्वभाव या स्वधर्म पर आधारित जो कार्य नियत किए गए हैं उन्हें करना ही कर्म है। इनके अलावा की जाने वाली क्रियाओं को बंधनकारी या पुनर्जन्म दिलाने वाली चेष्टाएं कहा गया है - यज्ञ के निमित्त किए जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त दूसरे कर्म बंधनकारी हैं (तीसरा अध्याय 9वां श्लोक)। ...आगे चौथे अध्याय में 24वें श्लोक से लेकर 33वें श्लोक तक यज्ञ यानि कर्त्तव्य कर्म के विविध प्रकार समझाए गए हैं - निष्काम-कर्म, ज्ञान-कर्म, भक्ति-कर्म, तपो-कर्म, योगयज्ञ-कर्म आदि। ज्ञान, भक्ति, योग, तप आदि ये सारी विधियां आत्म साक्षात्कार कराने वाली हैं। इनमें से आप स्वयं के लिए कोई एक विधि चुन लें और उस विधि को कार्यरूप देने वाले कार्य करते

रहें। यही आपके लिए नियत कर्म है। दूसरी बात 18वें अध्याय के 41 से 44 तक पांच श्लोकों में गुणों पर आधारित चार वर्णों के अनुसार सम्पूर्ण मनुष्य समाज के स्वाभाविक कर्म बताए गए हैं। इनका वर्णन 'त्रिगुणों' वाले प्रसंग में किया जा चुका है। कुल मिलाकर बात यह कि गीता में भगवान वासुदेव केवल कर्त्तव्य कर्मों को ही 'कर्म' कहते हैं; शेष सारे अकर्त्तव्यों को पतनकारी क्रियाएं कहा है। ऐसा क्यों? क्योंकि ऐसे कार्य यानि भोगवादी, राग-द्वेष से प्रेरित सांसारिक कार्य करने के कारण स्त्री-पुरुषों को निचली योनियों में पुनर्जन्म लेना पड़ता है।

2. निष्काम कर्म - कर्म के बाद निष्काम कर्म। 'निष्काम' का शाब्दिक अर्थ है कामना से रहित। निष्काम कर्म का सामान्य अर्थ हुआ किसी कामना से प्रेरित हुए बिना किया जाने वाला कर्म। मात्र कर्त्तव्य भाव से कर्म करना। गीता के दूसरे, तीसरे, चौथे और छठे अध्यायों में निष्काम कर्म को विस्तार पूर्वक समझाया गया है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा था कि तू साम्राज्य प्राप्ति की या द्रौपदी के अपमान का बदला लेने की अथवा दुर्योधन आदि को शत्रु मानकर उनको मार देने की आदि सभी कामनाओं को छोड़ दे। तू किसी भी तरह के काम, क्रोध, मद, लोभ आदि से प्रेरित होकर युद्ध मत कर। इसी भांति मोह से शिथिल होकर स्वधर्म या कर्त्तव्य कर्म का त्याग भी मत कर। तू समाज को कष्ट देने वाले अधर्मियों के विरुद्ध लड़, धर्म की स्थापना करना अपना कर्त्तव्य मानकर युद्ध कर।

इस तरह अनासक्ति भाव से कार्य करना ही निष्काम कर्म है। निष्काम कर्म एक भाव है, एक मानसिक अवस्था है। यहाँ सारे कर्म ईश्वर को समर्पित करने की भावना के साथ बुद्धि को स्थिर रखना, सुख-दुःख या सभी तरह की अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में विचलित हुए बिना अपने स्वाभाविक कर्म करते रहना। दूसरे अध्याय के 38वें श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'हे पार्थ! यदि तुझे स्वर्ग के सुखों और धरती पर राज्य की कोई इच्छा नहीं है तो भी सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझ कर युद्ध लिए तैयार हो। इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप को प्राप्त नहीं होगा। इसका तात्पर्य यह कि निष्काम भाव से कर्म करने पर किसी भी कर्म का कोई बंधनकारी संस्कार नहीं बनता है।

3. अकर्म - अ-कर्त्ता तथा अ-भोक्ता भाव से जो कर्म किया जाता है उसे अकर्म कहते हैं। अकर्म से संस्कार नहीं बनते, न अच्छे न बुरे। जहां न स्वर्ग है, न नरक है। वहाँ केवल मोक्ष है - न जन्म न मृत्यु, ब्रह्म चेतना में मिलकर सनातन हो जाना है। बस यह अंतिम जन्म। फिर कुछ नहीं। जीवात्मा और परमात्मा का भेद भी समाप्त। यह अकर्म भी एक

अवस्था है जिसमें स्थित रहकर मनुष्य आजीवन कर्म करता रहता है। ऐसा मनुष्य किस तरह के कर्म करता है? जवाब है - जिस तरह के कार्य कोई जीवनमुक्त संत-महात्मा करता है।

ऐसे मनुष्य में 1. कर्त्तापन का अभिमान नहीं रहता। वह स्वयं को कर्त्ता मानता ही नहीं है। तो फिर क्या मानता है? दृष्टा मानता है, साक्षी मानता है। किसका साक्षी? उसके शरीर से अन्तःकरण सहित इंद्रियों के द्वारा जो कर्म संस्कारगत स्वभाव के कारण हो रहे हैं उन कर्मों का साक्षी। 2. वह स्वयं को किसी भी कर्म के फल का भोक्ता भी नहीं मानता है - क्रिया और भोग तो शरीर के धर्म हैं। वह स्वयं को शरीर नहीं समझता; आत्मा भाव में स्थिर रहता है। 3. इस तरह जब मनुष्य स्वयं को न कर्त्ता मानता है, न भोक्ता समझता है; केवल साक्षी भाव में रहता है तो उसके सारे कार्य 'अकर्म' माने जाते हैं। चौथे अध्याय के 18वें श्लोक में कहा गया है कि 'जो पुरुष कर्म में अर्थात् अहंकार रहित की हुई सम्पूर्ण चेष्टाओं में अकर्म यानि कर्मों का न होना पन देखे वही योगी है।'

इसे महाभारत की एक कथा से समझिए - अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से अभिमन्यु की विधवा पत्नी उत्तरा का गर्भस्थ शिशु क्षत-विक्षत हो गया था। तब महात्मा वेदव्यास जी ने उस शिशु को पुनर्जीवित करने का एक उपाय बताया - आजीवन ब्रह्मचारी रहा मनुष्य अपनी संकल्प शक्ति से यह काम कर सकता है। तब श्रीकृष्ण ने कहा कि 'मैं ब्रह्मचारी हूँ। इसलिए मैं यह कार्य करूंगा।' उन्होंने उत्तरा के मृत शिशु को जीवित कर दिया। बाद में रुक्मणि माता ने इसका रहस्य पूछा तो श्रीकृष्ण बोले - यह सही है कि मैं विवाहित हूं, मेरे आठ रानियां हैं, मेरे अनेक पुत्र भी हैं; किन्तु यह तो शरीर द्वारा अपने धर्म-निर्वाह के उदाहरण हैं। मैं देह-भाव में नहीं, आत्म-भाव में स्थित हूँ; शरीर के कार्यों का साक्षी हूँ: शरीर के किसी भी कार्य में लिप्त नहीं हूँ। इसीलिए मैं 'ब्रह्मचारी' हूँ। अतः पुनः दोहरा दें कि जो महात्मा इस संसार में साक्षी भाव से जीवन निर्वाह करते हैं, उनके समस्त कार्य 'अकर्म' होते हैं।

4. विकर्म - इसका अर्थ है विपरीत या निषिद्ध कर्म। वर्णानुसार गीता में मनुष्यों के लिए जो नियत अथवा स्वाभाविक कार्य बताए गए हैं वे तो कर्म कहे गए हैं। इन सबके विपरीत सारे कार्य विकर्म बताए गए हैं। विपरीत अर्थात् पाप कर्म; ऐसे कार्य जिनसे मनुष्य का पतन होता है। सोलहवें अध्याय में इनको ही आसुरी कार्य कहा गया है।

श्री प्रभुपाद स्वामी ने 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' नामक पुस्तक में पृ. सं. 164 पर इन्हें पाप कर्म कहा है। श्री जयदयाल गोयनका ने भी गीता की 'तत्त्वविवेचनी हिन्दी टीका' में पृ.सं. 214 पर विकर्म को पाप कर्म बताया है। दूसरी तरफ वेदान्ती स्वामी आत्मानन्द ने 'गीता भाष्य-2' में विकर्म को विशिष्ट कौशल से किए गए कर्म कहा है। किन्तु अकर्म का अर्थगत दायरा इतना व्यापक है कि उसके बाद विशिष्ट कर्म जैसे अर्थ के लिए कोई पृथक सम्भावना नहीं रहती। ऐसे ही महात्मा अड़गड़ानन्द जी ने 'यथार्थ गीता' में पृ.सं. 107 पर विकर्म का अर्थ 'ब्रह्मज्ञान के पश्चात वाली अवस्था में स्वत: होते रहने वाले विशिष्ट कर्म' बताया है। लेकिन अकर्म की अवस्था ही आत्मज्ञान के बाद प्राप्त होती है। उस अवस्था में विशिष्ट तो कुछ रहता ही नहीं है - जब साक्षी भाव से जीवन बीत रहा है तो वहां सब कुछ समभाव है, विशेष कुछ भी नहीं। अतः विकर्म का अर्थ निषिद्ध कर्म या पाप कर्म ही मानना उचित है। मनुष्य अपने विकारों (काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि) का गुलाम होकर जो कार्य करता है वे निषिद्ध कर्म हैं। इस तरह नियत कर्म मनुष्य मात्र के लिए अनिवार्य हैं। निष्काम कर्म, कर्मयोगी के लिए हैं। अकर्म, तत्वदर्शी ज्ञानियों व संन्यासियों के लिए हैं। अब शेष रहे भक्तजन। भक्त तो स्वयं के मैं को पूरी तरह मिटा चुका होता है। उसमें तो मोक्ष की कामना भी नहीं रहती। वह कर्म-अकर्म के विवेचन में भी नहीं उलझता। वह तो अनन्य भक्ति के भाव से डूबा रहता है। उसके योगक्षेम की व्यवस्था स्वयं भगवान करते हैं। एक पौराणिक कथा है कि भगवान शिव नरसी की भक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें दिव्य बैकुण्ठ धाम में ले गये। वहां आदि ब्रह्म श्रीकृष्ण ने कहा - 'नरसी जी, इन दिनों हम वासुदेव श्रीकृष्ण के नाम से धरती पर द्वारिका में निवास कर रहे हैं। वहां हम आपके गुमाश्ते हैं। कोई काम हो तो लिखना'। भक्त नरसी जी ने जवाब दिया - प्रभो! मुझे तो मांगना आता ही नहीं है। फिर आपकी भक्ति के अलावा मेरे पास अन्य कोई काम भी नहीं है। अतः आप ही कभी कुछ देना चाहो तो देख लेना। ...ऐसा होता है भक्त! यही कारण है कि गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं - मेरे अनन्य भक्त की जरूरतों की मैं स्वयं व्यवस्था करता हूँ (अध्याय नवां श्लोक 22) और देह त्यागने के पश्चात् वह मुझमें ही लीन हो जाता है। चलो, अब आगे बढ़ते हैं।

प्र. 25 मनुष्य से कर्म एवं पाप कर्म कौन कराता है?

उत्तर - मनुष्य का स्वभाव ही उससे कर्म कराता है - पुण्य कर्म और पाप कर्म दोनों। यह स्वभाव त्रिगुणात्मक होता है - सात्विक भाव, राजसिक भाव एवं तामसिक भाव। इन्हीं को प्रकृति की त्रिगुणात्मक शक्ति भी कहते हैं। सात्विक स्वभाव अच्छे कर्म कराता है, राजसिक स्वभाव मनुष्य को भोगवादी कर्मों में प्रवृत करता है तथा तामसिक स्वभाव उससे दुष्ट कर्म कराता है। गीता के तेरहवें अध्याय में श्लोक संख्या 19 से 26 तक तथा

14वें अध्याय में श्लोक सं. 3 से 20 तक यह बात अच्छी तरह समझाई गई है। हमारा शरीर (मन, बुद्धि, अहंकार सहित) त्रिगुणात्मक प्रकृति के तत्वों से बनता है (14, 11, 12, 13)। यह अन्त:करण (मन, बुद्धि, अहंकार, कहीं-कहीं इसमें चित् को भी शामिल कर लिया जाता है) हमारे जन्मजात स्वभाव के अनुसार संसार के अनेक भोग विषयों की तरफ ललचाता है। फिर यह हमारी इंद्रियों को उन भोगों की तरफ सक्रिय करता है। मन हमारी भोग-कामना को प्रबल करता है, उसके लिए बुद्धि संकल्प करती है (योजना बनाती है) और अहंकार उस दिशा में कर्मेन्द्रियों को प्रेरित करता है। तब वे कर्मेन्द्रियाँ कर्म करती हैं।

इस सब की गहराई में है प्रारब्ध अर्थात् पूर्व जन्मों में किए गए कर्मों से संचित संस्कार। जैसे संस्कार वैसा स्वभाव; जैसा स्वभाव वैसा अन्त:करण; जैसा अन्त:करण वैसी प्रवृत्ति, वैसे ही कर्म। ...तो हमारे संस्कारों से बनने वाला त्रिगुणात्मक स्वभाव ही हम सब से कर्म कराता है।

अब प्रश्न है पाप कर्म का! तो समझ लीजिए कि आसुरी स्वभाव हमसे पाप कराता है। रजोगुण और तमोगुण बढ़ जाने से आसुरी स्वभाव बनता है। फिर जैसी ही संगत, दूषित सामाजिक परिवेश, दूषित खान-पान आदि के कारण यह आसुरी स्वभाव बेलगाम हो जाता है। परिणामस्वरूप मनुष्य पाप कर्म करता है।

प्र. 26 कर्म कौन करता है?

उत्तर - तीसरे अध्याय के 27वें श्लोक में इस प्रश्न का सीधा जवाब दिया गया है कि 'हे अर्जुन! वास्तव में सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए हुए हैं.....तो भी अहंकार से मोहित अन्त:करण वाला पुरुष, मैं कर्त्ता हूं, ऐसा मान लेता है'। अब इसे समझो 1. प्रकृति के तीनों गुणों से उत्पन्न तेईस तत्वों (पंचमहाभूत, पांच विषय, दस इंद्रियाँ व मन, बुद्धि तथा अहंकार) से निर्मित यह शरीर कर्म करता है; ये त्रिगुण उससे कर्म कराते हैं। 2. अहंकार के कारण अज्ञानी पुरुष स्वयं को कर्त्ता मान लेता है। 3. पुरुष का मतलब है देह में स्थित जीवात्मा। 4. जीवात्मा का अर्थ है आत्मा पर जीव भाव का आरोपण। 5. चूंकि यह शरीर जड़-चेतन का संयोग है इसलिए संस्कारों से उत्पन्न अज्ञान के कारण आत्मा पर जीव भाव का आवरण पड़ जाता है। 6. यही जीवात्मा रूपी पुरुष स्वयं को कर्ता-भोक्ता समझकर जन्म-मरण के चक्र में फंस जाता है। 7. प्राण तत्व ही जीव है और यह भी प्रकृति के वायु तत्व से बनता है। इस जड़ प्राण रूपी जीव से सनातन चेतन आत्मा को जोड़ लेने का भाव ही अज्ञान है। 8. ज्यों ही मनुष्य को आत्मा के सत्य का साक्षात्कार

होता है, वह शरीरधारी जीव भाव से छूट कर मुक्त हो जाता है। फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता है।

तो यह शरीर ही कर्त्ता है, आत्मा अ-कर्त्ता है। आत्मा तो चेतन शक्ति है, उसके हाथ-पैर नहीं होते हैं। तो फिर वह कर्त्ता या भोक्ता कैसे हो सकती है? ये हाथ-पैर तो शरीर के हैं जो आत्मा की शक्ति से काम करता है।

प्र. 27 कर्म संग्रह के तीन तत्व कौन से हैं?

उत्तर - 18वें अध्याय के 18वें श्लोक में इसका जवाब दिया गया है। यहाँ बताया गया है कि कर्त्ता, करण व क्रिया; ये तीनों कर्म के संग्रह हैं। संयोग से कर्म बनता है। स्पष्टीकरण - कोई भी कर्म सम्पन्न होने के लिए सबसे पहले कर्म करने वाले मनुष्य या कर्त्ता का होना जरूरी है। इसके बाद करण या साधन आवश्यक है जिससे कर्म किया जाता है; जैसे कि हम चाकू से सब्जी काटते हैं....तो चाकू करण या साधन है। अब तीसरा तत्व है क्रिया, तो सब्जी काटना ही क्रिया अथवा कर्म है। इस तरह सब्जी काटने वाले कर्म में तीन तत्व शामिल हैं - सब्जी काटने वाला, चाकू, काटने की क्रिया। इसी को कर्म संग्रह कहा गया है।

प्र. 28 किसी भी कर्म के सिद्ध होने में पांच हेतु कौन-कौन से बताए गए हैं?

उत्तर - हेतु का अर्थ है - कारण। 18वें अध्याय का 15वां श्लोक कहता है कि मनुष्य मन, वाणी और शरीर से जो कुछ भी कर्म आरम्भ करता है उसके पांच कारण हैं। ये पांच कारण कौन-कौन से हैं? इसका जवाब 14वें श्लोक में दिया गया है - 1. आधार; जिसके आश्रय से कर्म किए जाते हैं। 2. कर्त्ता यानि कर्म करने वाला। 3. करण - अर्थात् हमारी इंद्रियाँ और सांसारिक साधन। 4. चेष्टा यानि प्रयत्न। 5. दैव अर्थात् पहले के जन्मों में किए गए अच्छे-बुरे कर्मों के संस्कार। इन पांचों के आधार पर ही कोई कार्य पूर्ण होता है। कुल मिलाकर इसका तात्पर्य यह है कि संस्कारों के अनुसार कर्म भोग के लिये देह जरूरी है और यह त्रिगुणात्मक संसार भी जरूरी है।

प्र. 29 भोग कर्म कैसे उत्पन्न होते हैं?

उत्तर - इसका मतलब है सांसारिक विषयों का भोग करने वाले कार्य। हम क्यों करते हैं? इसका मूल कारण तो इन्द्रियों और विषयों का संयोग है। हमारी ज्ञानेन्द्रियों में पूर्व जन्मों की स्मृति निहित रहती है। अत: जब वे संसार के अनेकानेक विषयों के सम्पर्क में आती हैं तो पूर्व स्मृति के अनुसार उस वस्तु का स्वाद चखने के लिये ललचाने लगती हैं। फिर

रजोगुणी संस्कार ऐसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये कर्मेन्द्रियों से कर्म कराते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भोग कर्म भी पूर्व संस्कारों के अनुसार ही उत्पन्न होते हैं; इन्द्रियाँ तो केवल माध्यम हैं। पांचवें अध्याय के 22वें श्लोक में कहा गया है कि इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से ये भोग कर्म उत्पन्न होते हैं। विषयी स्त्री-पुरुषों को ये सुख स्वरूप प्रतीत होते हैं किन्तु निस्संदेह ये दुःख के ही हेतु हैं, अनित्य हैं और पतनकारी हैं। सम्पूर्ण गीता का यह प्रमुख संदेश है कि ऐसे भोग कर्मों से बचो और केवल कर्त्तव्य कर्म करो।

प्र. 30 श्रौत कर्म और स्मार्त कर्म क्या हैं?

उत्तर - यह विषय नवें अध्याय के सोलहवें श्लोक में आया है। श्रौत का मतलब श्रुति वेद समझिये। ऐसे ही स्मार्त का अर्थ स्मृति ग्रंथ माना गया है। दोनों का संबंध यज्ञ कर्म व धर्म संबंधी कर्म से है। श्रुतिवेद में जिन यज्ञों का प्रत्यक्ष विधान है उन्हें श्रौत कर्म कहा गया है, जैसे - ज्योतिष्टोम नामक वैदिक यज्ञ (श्रीमद्भगवद्गीता, प्रभुपाद जी महाराज, पृष्ठ 313)। इसी तरह गृह्य सूत्र, धर्मसूत्र आदि में वर्णाश्रम जीवन के अनुसार जो यज्ञ कर्म बताए गये हैं उन्हें स्मार्त कर्म कहते हैं। इसके अन्तर्गत गृहस्थ के द्वारा किए जाने वाले नियमित यज्ञों का विशेष प्रावधान है।

प्र. 31 'प्राण' से क्या तात्पर्य है?

उत्तर - यह शरीर की स्थूल शक्ति है। इसकी रचना वायु महाभूत के सतोगुण से होती है। यह स्थूल प्राण दस रूपों से सम्पूर्ण शरीर के विविध अंगों को क्रिया शक्ति प्रदान करता है। देहान्त के साथ ही स्थूल प्राण की डोर टूट जाती है। इसका मतलब यह है कि स्थूल व सूक्ष्म शरीर अलग हो जाते हैं। इन दोनों को स्थूल प्राण ही जोड़ कर रखता है।

प्राण के दो रूप हैं - स्थूल व सूक्ष्म। उधर शरीर के तीन सार हैं - स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर। कारण व सूक्ष्म शरीर को जोड़ कर रखने का कार्य सूक्ष्म प्राण करता है। यह सूक्ष्म प्राण जीवात्मा और चित् के संयोग से बनता है। देहान्त के बाद भी सूक्ष्म व कारण शरीर जीवित रहते हैं। जीवात्मा इनको लेकर देहान्त के समय निकल जाता है और नई देह धारण करता है (पन्द्रहवां अध्याय, 7वों श्लोक)।

इस सूक्ष्म प्राण को रजत-रज्जु (सिल्वर कॉर्ड) भी कहा जाता है। केवल मोक्ष के वक्त ही यह डोर छूटती है और जीवात्मा इस सूक्ष्म-कारण देह से भी मुक्त हो जाती है।

पलकें झपकाने से लेकर भोजन पचाने, मल-मूत्र को बाहर की तरफ धक्का देने और इस देह को खड़ी रखने तक सारे कार्यों में स्थूल प्राण की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। किन्तु यह भी सूक्ष्म प्राण से 'शक्ति' प्राप्त करता है। मृत्यु से दो-चार क्षण पहले सूक्ष्म-कारण शरीर अपनी जीवात्मा के साथ स्थूल देह को छोड़ देते हैं। तब स्थूल प्राण की गति भी थम जाती है। बाहरी वायुमण्डल में तो प्राण तत्व मौजूद रहता है लेकिन देहस्थ प्राण मर जाता हैं। जिस प्राण-तत्व को वह बाहरी वायुमण्डल से आजीवन खींचता रहा था, उसी को अब (सूक्ष्म देह से नाता टूटते ही) ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है। कुल मिलाकर बात यह कि प्राण तत्व से शरीर को स्थूल क्रिया शक्ति मिलती रहती है।

प्र. 32 भगवान स्थूल आँखों से क्यों 'नहीं' दिखते?

उत्तर - दुनियां में सैकड़ों ऐसी भौतिक चीजें हैं जो स्थूल आँखों से नहीं दिखती। सुगन्ध है पर दिखती नहीं, हवा नहीं दिखती, आकाश में फैली हुई ध्वनि तरंगे नहीं दिखती, अण्डाणु-शुक्राणु नहीं दिखते, हमारी आँख में स्थित तेरह करोड़ 'लाइट रिसेप्टर' नहीं दिखते। ...तो जब ये भौतिक वस्तुएं ही नहीं दिखती तो परमात्मा जैसी अत्यधिक सूक्ष्म चेतना कैसे दिखेगी? परमहंस श्री श्यामाचरण लाहिड़ी के अनुसार हमारी आत्मा, भौतिक अणु से एक लाख गुना सूक्ष्म है। अतः बाहरी आँखों से नहीं दिखती है। यह आज्ञा चक्र पर स्थित दिव्य-चक्षु से ही देखी जा सकती है। ग्यारहवें अध्याय के आठवें श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'मेरे परमात्मा रूप को तू अपने प्राकृत नेत्रों द्वारा नहीं देख सकता है। अत: मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ।'

यह दिव्य दृष्टि क्या है? मनुष्य के ललाट पर दोनों भौहों के मध्य स्थित आज्ञा चक्र का जाग्रत हो जाना ही दिव्य दृष्टि है। इसी को आत्मा की 'निरतशक्ति' भी कहते हैं। योग शक्ति से जिस तरह मस्तिष्क की सुप्त शक्तियां (निष्क्रिय भाग) जाग जाती हैं उसी प्रकार आत्मा की सुरत-निरत क्षमताऐं भी सक्रिय की जा सकती हैं। सुरत यानि अलौकिक वाणी सुनने की शक्ति; और निरत यानि अलौकिक दृश्य, परमात्मरूप आदि देखने की शक्ति। यह शक्ति नियमित और विधिवत 'नाम सुमिरन', योग साधना आदि के जरिए प्राप्त की जा सकती है। पूर्ण संत-महात्मा अपने संकल्प से भी किसी अन्य व्यक्ति को स्थाई-अस्थाई तौर पर ऐसी क्षमता दे सकते हैं। देखिए विज्ञान के पास भी सूक्ष्म दृष्टि और दूर दृष्टि वाले 'उपकरण' हैं। इनसे सूक्ष्मतम अणुओं को एक लाख गुना बड़ा करके देखा जा सकता है। इसी तरह करोड़ों कि.मी. दूर स्थित तारों को भी देखा जा सकता है। आकाश में ऐसे-ऐसे जासूसी उपग्रह स्थापित किए गए हैं जो धरती में दस इंच नीचे चल रही चीटिंयों को भी देख सकते हैं। ...जब आदमी की बनाई हुई मशीन ही ऐसा कमाल कर सकती है तो फिर

स्वयं मनुष्य के भीतर कितनी अपार क्षमता होगी? दिव्य दृष्टि भी ऐसी ही एक अद्भुत क्षमता है।

प्र. 33 परमात्मा का निवास स्थान कहाँ है?

उत्तर - भगवान श्री कृष्ण के अनुसार परमात्मा का निवास स्थान मनुष्य का हृदय स्थल है। भगवान आकाश में कहीं बहुत दूर नहीं रहते हैं। यों तो वे सर्वव्यापी हैं लेकिन उनके दर्शन हमें अपने हृदय में ही होते हैं। तेरहवें अध्याय के सत्रहवें श्लोक में वे कहते हैं कि 'वह ब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति है। वह माया से अति परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोध स्वरूप यानि जानने के योग्य है। उसे तत्व ज्ञान से प्राप्त किया जा सकता है। वह सबके हृदय में स्थित है'। इसके बाद पन्द्रहवें अध्याय के 15वें श्लोक में पुन: कहते हैं कि 'मैं ही सब प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ। मेरे से ही मनुष्य को स्मृति (पूर्व जन्मों का ज्ञान) और ज्ञान (आत्म साक्षात्कार की क्षमता) मिलती है। मैं ही अज्ञान को मिटाता हूँ। मैं ही सब वेदों द्वारा जानने के योग्य हूँ। मैं ही इन वेदों का कर्त्ता हूँ और इसलिये मैं चारों वेदों की विषय वस्तु को जानता हूँ'। इसके बाद 18वें अध्याय के 61वें श्लोक में वे इस बात को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'मैं सब भूत प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ। मैं अन्तर्यामी हूँ। मैं ही अपनी माया से मनुष्यों को उनके कर्मों के अनुसार अनेक योनियों में घुमाता रहता हूँ।

इस तरह इन तीनों श्लोकों के अनुसार परमात्मा का निवास हमारे हृदय में ही है। सम्पूर्ण गीता में उन्होंने अनेक बार कहा है कि निष्काम कर्मयोग, ज्ञान योग, भक्ति योग और जप योग (भगवान के नाम का सुमिरन) जैसी विधियों से कोई भी मनुष्य अपने ही हृदय में ईश्वर के दर्शन कर सकता है। इसके लिये एक ही शर्त है कि वह कर्तापन के अभिमान और विषयों के प्रति आसक्ति को छोड़ दे।

इसके बाद नवें और 12वें अध्यायों में वे कहते हैं कि सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति, इन दोनों ही विधियों से प्रभु के दर्शन हो जाते है। निर्गुण भक्ति से तो ब्रह्म ज्योति के दर्शन होते हैं और सगुण भक्ति से ईश्वर का साकार रूप सुलभ होता है।

प्र. 34 ब्रह्म के तीन नाम कौन से बताए गए हैं?

उत्तर - 18वें अध्याय के 23वें श्लोक में सच्चिदानन्द ब्रह्म के तीन नाम बताए गए हैं - ओम्, तत् और सत्। ओम् तो नाद स्वरूप है; तत् व्याप्त रूप और सत् भाव रूप है। शास्त्र विधि से तय की हुई यज्ञ, तप व दान रूप क्रियाएं 'ओम्' के उच्चारण से आरम्भ की

जाती हैं। ऐसे ही तत् नाम से परमात्मा का सर्वव्यापी होना सिद्ध होता है, परमात्मा ही सब कुछ है और जगत की सारी वस्तुएं उसी की हैं। इस जगत से कर्मफल का त्याग करते हुए समस्त क्रियाएं करनी चाहिए। अब सत् की बात करें। सत् अर्थात् शाश्वत यानि परमात्मा। जो परम गति देने वाला है वही सत् है। परमात्मा के निमित्त किया जाने वाला कर्म अवश्य ही सत् है। यह व्याख्या 23 से 27 तक पांच श्लोकों में की गई है।

प्र. 35 ब्रह्मा का कल्प किसे कहा गया है?

उत्तर - 'मनुस्मृति' के अनुसार ब्रह्मा की आयु के एक दिन को कल्प या सर्ग कहते हैं। यह अवधि मनुष्य लोक के चार अरब, बत्तीस करोड़ वर्षों के बराबर होती है। हमारे 30 दिन के बराबर 'पितरों' का एक दिन और हमारे 360 दिन जितना लम्बा देवताओं का एक दिन होता है। ऐसे ही सृष्टि कर्ता ब्रह्मा के एक दिन का हिसाब है। ब्रह्मा की आयु दिव्य सौ वर्ष है - इसमें तीस हजार कल्प होते हैं। इसे 4,32,0000000 से गुणा करने पर ब्रह्मा की आयु का हमारी गणित के अनुसार मान आ जाता है - 1296000000000000 (एक पद्म, उनतीस नील, साठ खरब वर्ष)।

ज्ञान, भक्ति और पुनर्जन्म

प्र. 36 कर्मयोग सरल है या ज्ञान योग?

उत्तर - इसका जवाब तीसरे अध्याय में दिया गया है। कहा गया है कि दोनों ही मार्ग मनुष्य को परमात्मा के परम धाम तक पहुँचा देते हैं। इसके बाद पांचवें अध्याय में स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान योग व्यवहारिक रूप से कठिन है, क्योंकि ज्ञानी अपनी ही आत्म शक्ति के सहारे साधना करता है। वह समस्त आसक्तियों और अभिमान का त्याग करके अनासक्त कर्म द्वारा निराकार ब्रह्म ज्योति की उपासना करता है। यह बहुत कठिन है। इसके विपरीत कर्मयोगी सारे कर्म परमात्मा को अर्पित करके चलता है। पांचवें अध्याय के दसवें श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा है कि निष्काम कर्मयोग सुगम है, क्योंकि इस मार्ग पर चलने वाला मनुष्य सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागते हुए कर्म करता है। ऐसा मनुष्य जल में कमल के पत्ते के समान सांसारिक पापों से लिपायमान नहीं होता है। इसी अध्याय के 12वें श्लोक में वे पुनः कहते हैं कि निष्काम कर्मयोग ही उत्तम है।

प्र. 37 ज्ञानी अर्थात् स्थित प्रज्ञ किसे कहा गया है?

उत्तर - दूसरे अध्याय के 54वें श्लोक में अर्जुन ने प्रश्न किया है कि स्थिर बुद्धि वाले मनुष्य के क्या लक्षण हैं? इसका जवाब भगवान ने 55 से 61 सात श्लोकों में दिया है। उनके जवाब का सारांश इस प्रकार है - जब मनुष्य मन की सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग कर देता है और अपने को केवल आत्मा मानकर साक्षी भाव से नियत कर्म करता रहता है तब उसे स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है। ऐसे मनुष्य की बुद्धि प्रतिकूल परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होती है। वह सुख-दुख, हानि-लाभ और उत्थान-पतन में समान भाव से रहता है। वह विकारों से ऊपर उठ जाता है। तभी उसकी बुद्धि स्थिर होती है। ऐसे स्थिर बुद्धि वाले मनुष्य का तो राग (विषयों के प्रति आन्तरिक आसक्ति) भी छूट जाता है। अन्ततः 61वें श्लोक में कहा गया है कि जो मनुष्य दसों इन्द्रियों को वश में कर लेता है उसी की बुद्धि स्थिर होती है।

हमारे गुरुदेव के पीर सूफी संत बाबा बादामशाह साहब थे। फकीरी का जीवन व्यतीत करते थे। एक बार देवगढ़ के राजा साहब उन्हें अपने साथ ले गए। राजा साहब ने महल के खजाने वाले विशाल कक्ष में बाबा साहेब को ले जाकर कहा कि हुजूर! जितनी दौलत चाहिए ले लीजिए। बाबा साहेब हंस दिए और बोले कि आपके लिए यह दौलत है; मेरे लिए तो कंकर-पत्थर हैं। इतना कहकर वे वहाँ से लौट गए। इसी तरह संत कुम्भन दास को एक बार मुगल बादशाह अकबर ने अपने पास बुलाया। महात्मा जी को उदास देखकर

बादशाह ने प्रश्न किया कि क्या आप यहाँ आकर खुश नहीं हैं? महात्मा जी ने जवाब दिया कि 'संतन को कहाँ सीकरी सों काम!' मतलब यह कि वे महलों के ठाठ-बाट से अनासक्त थे और वहाँ से तत्काल लौट गये। उधर सूफी संत सरमद की स्थिर बुद्धि का भी एक उदाहरण देखिए - जब मुगल बादशाह औरंगजेब की आज्ञा से जल्लाद उनका सिर काटने के लिये उनके सामने आ गया तो सरमद बोले कि 'या मालिक! मुझे तेरी यह अदा भी पसंद है।' ....कहने का मतलब यह है कि स्थिर बुद्धि वाले मनुष्य हर हाल में अविचलित रहते हैं।

प्र. 38 भक्त कितने प्रकार के बताए गए हैं?

उत्तर - इसका जवाब सातवें अध्याय के 16वें श्लोक में दिया गया है। इस श्लोक के अनुसार भक्त चार प्रकार के होते हैं - 1. सांसारिक पदार्थ प्राप्त करने के लिये भक्ति करने वाले लोग। इन्हें अर्थार्थी कहा गया है। 2. संकट निवारण के लिये भजन करने वाले लोग जिन्हें आर्त भक्त कहा गया है। 3. ब्रह्म को यथार्थ रूप से जानने की इच्छा से भक्ति करने वाले लोग। इनको जिज्ञासु भक्त कहा गया है। 4. ज्ञानी भक्त; ये पूरे संसार में ब्रह्म को व्याप्त देखते हैं और उसी भाव से उपासना करते हैं। इसके बाद 17वें श्लोक में श्रीकृष्ण का कथन है कि 'मेरे में एकाकी भाव से स्थित हुआ अनन्य प्रेम भक्ति वाला ज्ञानी भक्त मुझे सर्वाधिक प्रिय है क्योंकि वह मुझे तत्व से जानता है। आगे 18वें श्लोक में भी यह बात जारी रखते हुए उन्होंने कहा है कि अन्य सारे भक्त भी उत्तम हैं परन्तु ज्ञानी तो साक्षात मेरा स्वरूप ही होता है क्योंकि वह मेरे में ही अच्छी प्रकार स्थित है।'

इसी तरह गीता में जगह-जगह उन्होंने कई बार कहा है कि मेरा भक्त जिस किसी भाव से भी मेरा भजन करे, मैं उसे अपने बैकुण्ठ धाम में स्थान देता हूँ। जो लोग अन्य देवी-देवताओं की सकाम भाव से (कामना पूर्ति के लिये) भक्ति करते हैं मैं ही उनको उन देवताओं के माध्यम से मनोवांछित फल देता हूँ। 18वें अध्याय के भी 66वें श्लोक में भगवान कहते हैं कि जो भी मनुष्य मनोयोग से मेरी अनन्य शरण में आ जाता है, मैं उसे सारे पापों से मुक्त करके मोक्ष प्राप्त कराता हूँ।

प्र. 39 तपस्वी, कर्मी, ज्ञानी और योगी में क्या अन्तर है?

उत्तर - छठे अध्याय के 46वें श्लोक में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा है कि तपस्वियों से योगी श्रेष्ठ है। वह योगी ज्ञानियों और कर्मियों से भी अच्छा है। इसलिये तू योगी बन। अतः अब इन चारों में अन्तर समझें - 1. तपस्वी उस मनुष्य को कहते हैं जो अपने मन को स्थिर करने तथा इन्द्रियों को विषय-भोग वाली आसक्ति से हटाने के लिये निरन्तर

अभ्यास करता है। 2. कर्मी उस मनुष्य को कहते हैं जिसने यह जान लिया है कि उसके लिए कल्याणकारी नियत कर्म क्या है। यह जान लेने के बाद वह नियत कर्म करने में प्रवृत्त हो जाता है। 3. ज्ञानी ऐसे स्त्री-पुरुष को कहा गया है जिसने अपने स्वधर्म या नियत कर्म करने की प्रक्रिया को किसी महात्मा से समझ लिया है। फिर केवल अपने बलबूते पर वह कर्म मार्ग पर चल देता है। वह किसी संत-महात्मा या ईश्वर से भी याचना नहीं करता है। अपने कर्मों से होने वाली लाभ-हानि का वह स्वयं जिम्मेदार है, ऐसा समझ कर वह आगे बढ़ता है। 4. योगी पूरी तरह से अपने आराध्य के भरोसे आगे बढ़ता है। वह भगवान के प्रति पूरे समर्पण भाव से कर्म-योग वाली साधना के पथ पर चलता है। उसमें न कर्त्ता वाला अभिमान है न ही विषयों के प्रति आसक्ति। उसकी सांसारिक जरूरतों की व्यवस्था भी स्वयं भगवान करते हैं। इस तरह उपर्युक्त श्लोक में सारी बातें स्पष्ट करते हुए भगवान ने अर्जुन को निष्काम कर्मयोगी की तरह कार्य करने की शिक्षा दी है।

प्र. 40 सामान्य मनुष्य के लिये सगुण निर्गुण में से कौन सी भक्ति श्रेष्ठ बताई गई है?

उत्तर - सामान्य मनुष्यों के लिये गीता के 12वें अध्याय में सगुण भक्ति श्रेष्ठ बताई गई है। यद्यपि दोनों से ही मोक्ष प्राप्त होता है किन्तु निर्गुण भक्ति बहुत कठिन है। पांचवें श्लोक में भगवान ने कहा भी है कि परमात्मा के निराकार रूप की उपासना करने वाले मनुष्यों के साधन में क्लेश अधिक है। शास्त्रों में देह के पांच क्लेश बताए गए हैं - अविद्या, भौतिक बोध, आसक्ति, घृणा और अवशोषण (प्रतिपल देह का मृत्यु की तरफ बढ़ते रहना या कमजोर होते जाना)। मनुष्य में चूंकि देह का अभिमान अथवा देह का भाव अधिक होता है, इसलिये निराकार ब्रह्म पर मन टिकाना और उसकी उपासना करना बहुत कठिन है। देह भाव से पूरी तरह मुक्त हुए बिना निराकार ब्रह्म में स्वयं को स्थित करना अधिक मुश्किल है। योगियों के लिये तो यह सम्भव हो सकता है लेकिन मनुष्य के लिये सरल नहीं है। इसीलिये भगवान ने दूसरे और छठे श्लोक में सगुण भक्ति को उत्तम बताया है - जो भक्त जन श्रद्धापूर्वक सगुण रूप परमेश्वर का भजन करते हैं वे मेरे को योगियों में भी अति उत्तम योगी मान्य हैं; अर्थात् उनको मैं अति श्रेष्ठ मानता हूँ (दूसरा श्लोक)। जो भक्त जन सम्पूर्ण कर्मों को मेरे में अर्पण करके मुझ सगुण रूप परमेश्वर का ही निरन्तर चिन्तन और भजन करते हैं, उन प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार समुद्र से उद्धार कर देता हूँ।

इसी तरह नौवें अध्याय के 26वें और 27वें श्लोक को भी देखिए - जो भक्त मेरे सगुण रूप की पूजा करते हुए पत्र - पुष्प - फल - जल आदि मेरे लिये अर्पित करते हैं उन्हें मैं सगुण रूप से प्रकट होकर प्रीति सहित खाता हूँ। फिर इससे आगे 27वें श्लोक में कहा है

कि 'इसलिये हे अर्जुन! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है वह सब मुझे समर्पित कर दे। इस तरह गीता में सामान्य मनुष्य के लिये सरलता की दृष्टि से सगुण भक्ति को श्रेष्ठ कहा गया है।

प्र.41 सहज भक्ति करने वाले मनुष्यों के लिये गीता में क्या कहा गया है?

उत्तर - सत्रहवें अध्याय के पहले श्लोक में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रश्न किया है कि जो मनुष्य शास्त्र विधि को त्याग कर केवल श्रद्धा भाव से देवी-देवताओं की पूजा करते हैं उनकी क्या स्थिति होती है? इसका जवाब दूसरे, तीसरे और चौथे श्लोकों में दिया गया है - सात्विक स्वभाव वाला मनुष्य तो देवों को पूजता है। राजसी स्वभाव वाले मनुष्य राक्षसों को पूजते हैं और तामसी मनुष्य प्रेत एवं भूत गणों को पूजते हैं। जो जिसको पूजते हैं वे उसी को प्राप्त होते हैं। इन सबका पुनर्जन्म भी होता है क्योंकि मनुष्य से लेकर देवता तक सब मरणशील हैं। केवल मेरे भक्त ही मुझे प्राप्त होते हैं। गीता में ही अन्यत्र भगवान कहते हैं कि जो-जो स्त्री-पुरुष जिस-जिस कामना से जिन-जिन देवी-देवताओं की पूजा करते हैं उन देवी-देवताओं के माध्यम से मैं ही उनकी मनोकामनाएँ पूरी करता हूँ। सातवें अध्याय के 21-22वें श्लोक में यही बात कही गई है - जो-जो भक्त सांसारिक मनोकामनाओं की पूर्ति के लिये जिस-जिस देवता की पूजा करते हैं उस भक्त की मैं उस ही देवता के प्रति श्रद्धा को स्थिर करता हूँ। ऐसा भक्त उन देवताओं से मेरे द्वारा ही विधान किए हुए अपने मनोवांछित भोगों को अवश्य ही प्राप्त करता है। तत्पश्चात 23वें श्लोक में वे कहते हैं कि मेरे भक्त चाहे जिस तरह से मेरा भजन करें, अन्त में वे मेरे को ही प्राप्त होते हैं।

प्र. 42 क्या संसार का त्याग कर देना ही सन्यास है?

उत्तर - इसका जवाब देते हुए पांचवें अध्याय के दूसरे श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा है कि संसार को त्याग देना संन्यास नहीं है। इसी तरह नियत कर्मों को छोड़ देना भी संन्यास नहीं है। वस्तुतः मन, इन्द्रियों और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन का त्याग ही संन्यास है। संन्यासी के लिये निष्काम भाव से कर्म करते रहना, कामनाओं और विचारों का त्याग कर देना, दसों इन्द्रियों को भोग-परक विषयों की आसक्ति से हटा लेना तथा किसी भी कर्म के प्रति कर्ता भाव का अहंकार छोड़ देना जरूरी है। अतः समझने की बात यह है कि योगियों, संन्यासियों और महात्माओं के लिये भी शास्त्रों में जो नियत कर्म बताए गए हैं उन्हें करना अनिवार्य है।

प्र. 43 योग का क्या अर्थ है? योगी किसे कहा गया है?

उत्तर - योग का सामान्य अर्थ है - जोड़ना। दो वस्तुओं को जोड़ देना ही योग है। गीता में योग का अर्थ इस प्रकार बताया गया है - त्रिगुणात्मक प्रकृति से निर्मित देह में स्थित जीवात्मा को परमात्मा से मिला देना ही योग है। अब देखिए, जीवात्मा तो प्रकृति के घेरे में है और परमात्मा इस घेरे से बाहर है। ...तो जीवात्मा को प्रकृति के घेरे से बाहर निकालना जरूरी है। यह कैसे होगा? इसके लिये देह भाव से मुक्त होना जरूरी है, देह धर्म के अंतिम संस्कार को भी काट देना अनिवार्य है। जब तक संस्कार शेष हैं तब तक प्रकृति या माया का बंधन भी बना रहता है। जब सारे संस्कार मिट जाते हैं तो प्रकृति का बंधन या प्रकृति का घेरा भी टूट जाता है। जीवात्मा से जुड़ा हुआ अज्ञानी जीव भाव समाप्त हो जाता है। तब नित्य शुद्ध आत्मा अपने समष्टि रूप परमात्मा से मिल जाती है। इसी को योग कहते हैं। जो मनुष्य अपनी आत्मा का परमात्मा से योग करा चुका है उसे योगी कहते हैं। गीता की शब्दावली में योगारूढ़ साधक यानि योग में प्रतिष्ठित साधक ही योगी कहलाता है। छठे अध्याय के तीसरे और चौथे श्लोक में इसे स्पष्ट किया गया है - समत्व बुद्धिरूप योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मननशील पुरुष के लिये योग की प्राप्ति में निष्काम भाव से कर्म करना ही हेतु कहा है और योगारूढ़ हो जाने पर उस योगारूढ़ पुरुष के लिये सर्व संकल्पों का अभाव ही कल्याण में हेतु कहा है। जिस काल में न तो इन्द्रियों के भोगों में आसक्त होता है तथा न कर्मों में ही आसक्त होता है, उस काल में सर्व संकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।

प्र. 44 प्रकृति का घेरा हमें कैसे प्रभावित करता है?

उत्तर - गीता में बीसों बार यह कहा गया है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति के घेरे से निकले बिना मनुष्य का कल्याण असम्भव है। अतः यह समझना जरूरी है कि प्रकृति हमें किस तरह प्रभावित करती है। वस्तुतः यह प्रकृति हमें बहुत व्यापक रूप से प्रभावित करती है - 1. मन, बुद्धि, अहंकार और दसों इन्द्रियों की आसक्तियां तथा अहंकार का भाव मनुष्य का सर्वाधिक पतन करता है। ये सब प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं इसलिए कहा जाता है कि प्रकृति के इस प्रभाव से मुक्त होना जरूरी है। 2. जल प्रदूषण और वायु प्रदूषण हमें बीमार कर देते हैं। 3. हमारे चारों तरफ रहने वाले सैकड़ों मनुष्यों द्वारा सांस बाहर निकालने पर उनके खराब आन्तरिक विचार भी सूक्ष्म रूप से वायु में फैल जाते हैं। जब हम सांस भीतर खींचते हैं तो ये विकारी विचार भी हमारे भीतर आ जाते हैं और हमारे स्वभाव को बिगाड़ते हैं। 4. आकाश से आने वाली अनेक गैसें भी मनुष्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालती रहती हैं; जैसे, कार्बन मोनो ऑक्साइड और नाइट्रोजन मोनो ऑक्साइड जैसी गैसें हमारे लिये हानिकारक हैं। 5. इसी तरह पराबैंगनी किरणों का विकिरण भी

हमारी त्वचा को रोगी बना देता है। कभी-कभी कोई बड़ा तारा टूटकर पृथ्वी पर गिरता है और यहाँ भारी तबाही मचा देता है; जैसे, साढ़े तीन करोड़ वर्ष पहले ऐसे ही एक उत्पात ने धरती पर डायनोसोर जैसे विशाल जीवों को नष्ट कर दिया था और आधी आबादी समाप्त कर दी थी। 6. ज्वालामुखी और भूकम्प भी धरती पर तबाही मचाते रहते हैं। 7. कुछ जहरीले पौधे भी मनुष्य जाति के शत्रु हैं।

इस तरह प्रकृति अनेक तरह से मनुष्य को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष नुकसान पहुँचाती रहती है। हमारा संबंध यहाँ वैचारिक नुकसान से अधिक है। इसी नुकसान से बचने के लिये आराधना की व्यवस्था की गई है। अनेक ऐसे मंत्र भी हैं जो मनुष्य के लिये सुरक्षा कवच बना देते हैं। ...तो गीता में यही कहा गया है कि प्रकृति के ऐसे नुकसानकारी प्रभावों से बचने के लिये मनुष्य को सदैव सावधान रहना चाहिये।

प्र.45 स्मृति और विस्मृति क्या है?

उत्तर - स्मृति का अर्थ है - यह याद रखना कि मैं देह नहीं सनातन चेतना रूपी आत्मा हूँ। ऐसे ही विस्मृति का अर्थ है इस ज्ञान को भूल जाना। जब मनुष्य की स्मृति लुप्त हो जाती है तो वह स्वयं को देह समझने लगता है। देह के अभिमान से वह अनेक बुरे कर्म करने लगता है, परिणामस्वरूप बार-बार अनेकानेक योनियों में जन्म लेकर कष्ट भोगता रहता है। महाभारत में एक बार दुर्योधन कहता है कि मैं श्रीकृष्ण के ईश्वरीय रूप को जानता हूँ लेकिन मेरा अज्ञान (विस्मृति) मुझे इस सत्य को स्वीकार नहीं करने देता है; मेरे प्रतिकूल संस्कार मुझसे गलत काम कराते रहते हैं। ऐसी ही विवशता से प्रत्येक मनुष्य परेशान है। जो लोग भक्ति करते हैं उन्हें धीरे-धीरे उनकी स्मृति मिल जाती है। पन्द्रहवें अध्याय के 15वें श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरी कृपा से ही मनुष्य को स्मृति प्राप्त होती है। इस स्मृति से मनुष्य को आत्मज्ञान हो जाता है और वह सभी तरह की आसक्तियों तथा अभिमान से छूट जाता है। कैसे? जैसे कि अर्जुन का अज्ञान छूट गया था। पहले वह देह भाव के कारण मोहित हो गया था। इसके बाद भगवान की कृपा से उसे सनातन स्मृति पुनः प्राप्त हो गई। 18वें अध्याय के 73वें श्लोक में अर्जुन कहता है 'आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है। मुझे स्मृति प्राप्त हो गई है। मेरे सारे संशय दूर हो गये हैं। मेरी बुद्धि स्थिर हो गई है। अब मैं आपकी आज्ञा का पालन करने के लिये तैयार हूँ।'

इसी संदर्भ में एक बात और जानिए - गौतम बुद्ध ने सैकड़ों स्त्री-पुरुषों को अपने तपोबल से उनके कई पूर्व जन्म दिखा दिए थे। इन पूर्व जन्मों को देखकर वे लोग आतंकित हो गए और उन्हें समझ में आ गया कि वे देह नहीं आत्मा हैं। यह स्मृति प्राप्त होते ही वे सब

भिक्षुक बन गए। महात्मा अष्टावक्र ने भी राजा जनक को उनके पूर्व जन्म दिखाए थे। तब राजा जनक बोले कि हे गुरुदेव! मैंने अपने ही कितने जन्म सांसारिक भोग-विलासों में नष्ट कर दिए हैं लेकिन अब मैं ऐसा नहीं करूंगा, मुझे आत्म रूप की स्मृति हो गई है। अब आप मुझे ब्रह्म ज्ञान दीजिए।

तो ऐसी होती है स्मृति और विस्मृति। जो लोग कुतर्क करते हैं कि अगला जन्म किसने देखा है? न हमें पिछला जन्म याद है और न ही अगले जन्म में यह वर्तमान जन्म याद रहेगा। ...तो फिर हम जन्म-जन्मांतरों की चिंता क्यों करें? ऐसा कथन मनुष्य की विस्मृति यानि अज्ञान का ही प्रमाण है। जो लोग गीता या अन्य शास्त्र पढ़कर भी अपना विचार नहीं बदलते हैं तो समझो कि उनका भाग्य बहुत खराब है। अभी जन्म-मरण के चक्र में अनेक वर्षों तक भटकते रहना ही उनकी नियति है। जो मनुष्य अपनी जीवात्मा के कल्याण की बात नहीं सोचता है वह दया का पात्र है।

प्र.46 पुनर्जन्म क्यों व कैसे होता है?

उत्तर - पहली बात तो यह गांठ बांध लें कि पुनर्जन्म होता है। चौथे अध्याय के पांचवें श्लोक में वासुदेव श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं लेकिन उन सबको तू नहीं जानता है और मैं जानता हूं'....तो साक्षात परब्रह्म श्रीकृष्ण का यह कथन अकाट्य प्रमाण है कि पुनर्जन्म होता है। अब यह सवाल आता है कि पुनर्जन्म क्यों होता है? इसका जवाब है संचित कर्मों का फल भोगने के लिए ही पुनर्जन्म होता है। इसीलिये भगवान बार-बार कहते हैं कि तुम अपने कर्मों के फल भी मुझे अर्पित कर दो। जब तुम्हारे खाते में कोई फल रहेगा ही नहीं तो पुनर्जन्म भी नहीं होगा। नवें अध्याय के 28वें श्लोक में कहा गया है कि इस प्रकार सारे कर्म मुझे अर्पण कर देने वाले मनुष्य को कर्मों के शुभ-अशुभ फल नहीं भोगने पड़ते हैं और वह सदा के लिये मुक्त हो जाता है। इसी तरह 12वें अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में भी वे कहते हैं कि तू मेरे प्रति समर्पित होकर सब कर्मों के फल मेरे निमित्त त्याग दे। इस तरह स्पष्ट होता है कि कोई कर्मफल शेष है तो पुनर्जन्म होगा और कोई भी फल शेष नहीं है तो पुनर्जन्म नहीं होगा। ऐसा क्यों? इसका जवाब अगले श्लोक में दिया गया है। सब कर्मों के फल मेरे लिये त्याग करना श्रेष्ठ है और ऐसे त्याग से मनुष्य को परम शांति (मोक्ष) प्राप्त होती है।

पुनर्जन्म किस आधार पर होता है इसका भी गीता में जवाब दिया गया है। भगवान कहते हैं कि सात्विक कर्म करने वाले स्त्री-पुरुषों को तो देवयोनि प्राप्त होती है, रजोगुणी कर्म करने वाले को पुनः मनुष्य योनि में जन्म लेना होता है। इसी भांति तमोगुणी मनुष्य कीट,

पशु आदि अधोयोनियों में उत्पन्न होता है। यह बात चौदहवें अध्याय में श्लोक संख्या चौदह से अठारह तक विस्तारपूर्वक समझाई गई है।

गीता में यह भी कहा गया है कि मृत्यु के समय मनुष्य का जैसा भाव होता है वैसी ही योनि में उसका पुनर्जन्म होता है। अब कोई यह सोचे कि जीवन भर तो मौज-मस्ती कर लो और मृत्यु के समय हृदय में अच्छे भाव ले आओ, तो वह मनुष्य मूर्ख है। सच्चाई यह है कि जीवन भर मनुष्य जिस भाव में रहते हुए जीवन व्यतीत करता है वैसे ही भाव मृत्यु के समय उसे जकड़ लेते हैं। इस तरह स्पष्ट होता है कि पुनर्जन्म का आधार मनुष्य के कर्म, उसकी प्रकृति व उसकी सोच आदि ही होते हैं।

प्र.47 कर्मफल का हिसाब-किताब कौन रखता है?

उत्तर - कर्मफल का हिसाब-किताब स्वयं मनुष्य के अंत:करण में ही जमा होता रहता है। अन्त:करण में जो चित्त होता है वहीं कर्मों के संस्कार कर्माणु रूप से संचित होते रहते हैं। जो विद्वान चित्त और मन को एक ही मानते हैं उनका कहना है कि मन में ये संस्कार संचित होते हैं। इन्हें पुनर्जन्म के 'कारण बीज' कहा गया है। यही 'कारण शरीर' भी कहलाता है। मृत्यु के बाद जीवात्मा सूक्ष्म और कारण शरीर को लेकर संस्कारों के अनुकूल जीव योनि में पुनर्जन्म ग्रहण करती है। यह स्वतः होता रहता है। इसे थोड़ा यों समझिए कि प्रकृति में जैसे जलाशयों से भाप बनना, भाप से बादल बनना और बादलों का बरसना अपने आप होता रहता है; कम दाब वाले क्षेत्र की तरफ हवा अपने आप बहने लगती है; हमारी निहारिका से एक हजार किलोमीटर प्रति सैकण्ड की रफ्तार से ऊर्जा अपने आप निकल रही है - इसी तरह चित्त में संचित कर्माणुओं के अनुसार जीवात्मा नये जन्म वाली जीव योनि प्राप्त कर लेती है। यह सारी व्यवस्था परम शक्ति द्वारा नियत शाश्वत नियम 'ऋत' के अनुसार महाप्रलय काल तक चलती रहती है। ऐसा मत सोचिए कि ऊपर अंतरिक्ष में कहीं परमात्मा ने बहुत बड़ा दफ्तर खोल रखा है और वहीं यह सारा काम होता है। जिस तरह प्रकृति में सब कुछ अटल भौतिक नियमों के अनुसार गतिशील है वैसे ही जीव जगत में सारी कार्य व्यवस्था 'ऋत' के अनुसार चलती रहती है। पन्द्रहवें अध्याय के आठवें-नवें श्लोक में ऐसी ही बात कही गई है - जिस तरह वायु फूलों की गंध को ग्रहण करके ले जाता है वैसे ही देह का स्वामी जीवात्मा भी पहले वाले शरीर को त्यागते समय मन सहित सूक्ष्म इन्द्रियों को अपने साथ ले जाता है। फिर वह मन में संचित कर्माणुओं रूपी संस्कारों के अनुसार नये शरीर को प्राप्त होता है। नये शरीर में भी यह जीवात्मा अन्त:करण एवं इन्द्रियों के माध्यम से विषय भोगों का सेवन करता है।

प्र.48 भगवान अवतार क्यों लेते हैं?

उत्तर - इसका जवाब गीता के चौथे अध्याय में दिया गया है। सातवें और आठवें श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब-जब भी समाज में धर्म का पतन हो जाता है और अधर्म बढ़ जाता है तब-तब मैं मनुष्य रूप में अवतार लेता हूँ। मैं भले लोगों और साधु-संतों का कल्याण करने के लिये तथा दुष्टों का नाश करने के लिये धरती पर अवतरित होता हूँ। मेरे अवतार का यह भी उद्देश्य रहता है कि मैं धर्म की पुनर्स्थापना करूं। पौराणिक इतिहास बताता है कि भगवान ने मत्स्य, कच्छप, नृसिंह, वामन और रामावतार इसी उद्देश्य से लिये थे। तत्पश्चात् द्वापर युग के अन्त में उन्होंने सोलह कलाधारी श्रीकृष्ण के रूप में मनुष्य देह धारण की थी। इसके अलावा चौथे, 13वें और 14वें अध्यायों में भी यह स्पष्ट किया गया है कि साधु-संतों के रूप में भी भगवान अंश रूप से धरती पर अवतरित होते रहते हैं - गौतम बुद्ध, रामकृष्ण परमहंस, चैतन्य महाप्रभु, रामानंद जी, कबीर साहब आदि इसी कथन के प्रमाण हैं।

प्र.49 इन्द्रियों को वश में करने के लिये गीता में कौन सा उपाय बताया गया है?

उत्तर - इसका जवाब तीसरे अध्याय के 41 से 43 तक तीन श्लोकों में विस्तारपूर्वक समझाया गया है - मन में हजारों कामनाएं होती हैं। ये कामनाएं ही इन्द्रियों को भोग विषयों की तरफ प्रवृत्त करती हैं। इसलिये इन्द्रियों को वश में करना बहुत जरूरी है। इसके लिये पहला उपाय है - मन को प्रभु भक्ति में लगाकर इन्द्रियों की तरफ से हटाना। दूसरा तरीका है बुद्धि से यह विचार करना कि भोग-विषयों में इन्द्रियों की आसक्ति हमारा पतन करती है। ऐसे विचार को अभ्यासपूर्वक दृढ़ करना और इन्द्रियों को जप-तप आदि के अभ्यास में लगाना। वस्तुतः इन्द्रियों से तो मन अधिक शक्तिशाली होता है और बुद्धि हमारे मन से भी अधिक बलवान होती है। इसलिये इन्द्रियों को वश में करने के लिये आरम्भिक प्रयास मन और बुद्धि के माध्यम से करो। बयालीसवें श्लोक में यह भी कहा गया है कि हमारी आत्मा इन सबसे अधिक शक्तिशाली होती है। इसलिये अपनी आत्मा में स्थिर हो जाओ, आत्मरूप का ही चिंतन करो और किसी संत-महात्मा से आत्म ज्ञान प्राप्त करने की विधि ग्रहण करो। महात्मा अष्टावक्र ने राजा जनक को इसी विधि की शिक्षा दी थी। आत्म ज्ञान के सहारे बुद्धि स्थिर हो जाती है और मन निर्मल हो जाता है। इसके परिणाम स्वरूप इन्द्रियां स्वतः ही शांत हो जाती हैं - वे भोगवादी विषयों से हटकर स्वधर्म के पालन में लग जाती हैं। इस तरह गीता में इन्द्रियों को वश में करने के लिये ये तीन उपाय बताये गये हैं।

प्र.50 मनुष्य अपना ही मित्र व शत्रु कैसे हो जाता है?

उत्तर - गीता के छठे अध्याय के पांचवें और छठे श्लोक में यह बात समझाई गई है। पांचवें श्लोक में तो यह कहा गया है कि सबसे अधिक दुर्लभ इस मनुष्य जीवन का उपयोग जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाने के लिये करो। ऐसे काम मत करो जो तुम्हारी ही जीवात्मा को अधोयोनियों में जन्म लेने के लिये बाध्य कर दें। वस्तुतः मनुष्य स्वयं ही तो अपना मित्र है और शत्रु भी स्वयं ही है। कोई दूसरा उसका मित्र या शत्रु नहीं है। यह कैसे? यह इस तरह कि यदि हम अपने मन और इन्द्रियों को वश में करके केवल नियत कर्म कर्त्तव्य भाव से करते हैं तो हम अपने मित्र हैं। ऐसे मनुष्य मोक्ष मार्ग पर आगे बढ़ते हुए अन्ततः परम गति प्राप्त करते हैं। यहाँ अन्ततः का मतलब है कि सम्भवतः परम गति तक पहुंचने में पांच-दस-पन्द्रह जन्म लग जाएं लेकिन ऐसा होगा अवश्य। दूसरी तरफ जो लोग मन और इन्द्रियों के गुलाम हैं तथा जिनको अपनी देह का अभिमान है वे लोग पतन गामी कर्म करते रहते हैं। ऐसे भोगवादी कर्म सांसारिक स्तर पर तो शरीर को सुख देने वाले लगते हैं किन्तु उनका आध्यात्मिक परिणाम कष्टदायी होता है। ऐसे मनुष्यों को मनुष्य योनि या लाखों तरह की अधोयोनियों में बार-बार जन्म लेकर कष्ट भोगने पड़ते हैं। ...तो ऐसे कर्म करने वाले लोग स्वयं ही अपने शत्रु होते हैं। इसके विपरीत मोक्षगामी कर्म करने वाले स्त्री-पुरुष स्वयं अपने ही मित्र होते हैं।

प्र. 51 संत-महात्माओं के लिए श्रीकृष्ण ने क्या कहा है?

उत्तर - संत-महात्माओं को श्रीकृष्ण ने अपना ही स्वरूप बताया है। वे हमें तो सामान्य देहधारी मनुष्य जैसे लगते हैं लेकिन वस्तुतः वे प्रतिपल परमात्मा के स्वरूप मे ही स्थित रहते हैं। पांचवें अध्याय के 13वें श्लोक में यही बात कही गई है - संत-महात्मा अथवा योगी अपने अंत:करण को वश में रखते हैं। वे सभी कर्मों को मन से त्याग कर नौ द्वारों वाले शरीर के सामान्य कर्म स्वतः होने देते हैं। ये महात्मा जन आनन्दपूर्वक परमात्मा के स्वरूप में स्थित रहते हैं। इस बात को स्वामी अड़गड़ानंद जी ने यथार्थ गीता नामक ग्रंथ में और अधिक सरल करके समझाया है - 'सद्गुरु, भगवान, प्रभु, महापुरुष, योगी इत्यादि एक दूसरे के पर्याय हैं। अलग से कोई भगवान कुछ करने नहीं आता। वह जब करता है, तो इन्हीं स्वरूपस्थ इष्ट के माध्यम से कराता है। महापुरुष के लिये शरीर एक मकान मात्र है। अतः परमात्मा का करना और महापुरुष का करना एक ही बात है। चौथे अध्याय के 34वें श्लोक में भी श्री वासुदेव अपने शिष्य अर्जुन को कहते हैं कि परमात्मा को जानने के लिये तू किसी तत्वज्ञानी या संत-महात्मा के पास जा; वहाँ भलीभांति दंडवत प्रणाम कर; निष्कपट भाव से उनकी सेवा कर। वे ही तुझे (वर्तमान मनुष्यों को भी) आत्मसाक्षात्कार का रहस्य समझाएँगे।' तेरहवें अध्याय के चौथे श्लोक में वे पुनः स्पष्ट करते हैं कि

परमात्मा को तत्व से जानने वाले अनेक ऋषि पहले भी हुए हैं। उन्होंने इस रहस्य को वेद मंत्रों में समझाया है। इसका मतलब भी यही कि ऋषि-मुनि, संत-महात्मा, योगी आदि धरती पर परमात्मा का ही काम करने के लिये सक्रिय रहते हैं।

प्र.52 भगवान गीता में बार-बार कहते हैं कि मेरी शरण में आ जा। 'शरण' में आने का क्या अर्थ है?

उत्तर - भगवान की शरण में जाने का मतलब है अपने अहंकार को त्याग देना; 'मैं कुछ नहीं हूँ, सब कुछ परमात्मा ही हैं' ऐसा सोचते हुए अपने कर्त्तव्य कर्म करना। मनुष्य देह के अभिमान को छोड़कर, कर्त्तापन के अहंकार को त्याग कर और कर्मों के सारे फल प्रभु के चरणों में त्याग कर ही भगवान की शरण में जाया जा सकता है। शरण में जाने का अर्थ है कि अब तुम न कर्ता हो न भोक्ता। इसलिये अर्जुन को गीता का पूरा ज्ञान देने के बाद 18वें अध्याय के 66वें श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि चलो, तुम तो ये सारे झंझट छोड़ दो और केवल मेरी शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें सारे पापों से मुक्त कर दूंगा। तुम शोक मत करो। यह बात हर मनुष्य पर लागू होती है। वर्तमान युग में जब तुम किसी संत-महात्मा की शरण में जाते हो तो वहाँ भी ऊपर कहा हुआ सत्य तुम पर लागू होता है। तुम केवल ईश्वर के या उस संत-महात्मा के भरोसे हो जाओ, वे जैसा कहें वैसे कर्म करो। अपनी बुद्धि मत लगाओ, तर्क मत करो, उनके द्वारा दिए गए आदेश का तुम अपने हिसाब से विश्लेषण मत करो। शरण में जाने का यही अर्थ होता है।

प्र.53 पापियों को भगवान कौन सा आश्वासन देते हैं?

उत्तर - भगवान पापियों को भी स्पष्ट आश्वासन देते हैं कि मेरी शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें सारे पापों से मुक्त कर दूंगा। नवें अध्याय के तीसवें श्लोक में कहा गया है कि यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरी भक्ति करता है, निरन्तर मेरा भजन करता है तो वह भी परम शांति को प्राप्त होता है। मेरा भक्त चाहे जैसा हो, उसकी दुर्गति नहीं होती है। पाप योनि वाले मनुष्य भी मेरी शरण में आ जाने से परम गति प्राप्त करते हैं। नवें अध्याय में भगवान ने यह आश्वासन बार-बार दिया है। गीता के तीसरे, चौथे, पांचवें, छठे और सातवें अध्याय में भी प्रभु की कृपा से पाप मुक्ति की बात कही गई है।

प्र.54 सब मनुष्यों का स्वभाव अलग-अलग होता है; तो फिर वे एक जैसी ही भक्ति कैसे करेंगे?

उत्तर - गीता में इसी बात को ध्यान में रखते हुए आराधना की अलग-अलग विधियां समझाई गई हैं - दृढ़ संकल्प वालों के लिये ज्ञान योग, कर्मठ लोगों के लिये कर्मयोग और

सरल हृदय वालों के लिये भक्ति योग का उपदेश दिया गया है। भक्ति भी निर्गुण और सगुण दो तरह की होती है - जन सामान्य के लिये सगुण भक्ति की बात कही गई है। 12वें अध्याय के श्लोक संख्या 8 से 11 तक इसी बात को समझाया गया है - 1. हे अर्जुन! तू अपने मन और बुद्धि को मेरी भक्ति में लगा; इससे तेरा कल्याण होगा। 2. यदि तू ऐसा नहीं कर सकता है तो अभ्यास रूप योग के द्वारा मेरे को प्राप्त करने की इच्छा कर - भगवान के नाम और गुणों का श्रवण, कीर्तन, मनन तथा श्वास के द्वारा जप और भगवत् प्राप्ति विषयक शास्त्रों का पठन-पाठन इत्यादि चेष्टा भगवत् प्राप्ति के लिये बारम्बार करने का नाम 'अभ्यास' है। 3. यदि तू अभ्यास योग भी नहीं कर सकता है तो केवल मेरे लिये कर्म कर यानि स्वयं को कर्ता मत समझ, निमित्त भाव से कर्म करता रह और 4. यदि इसको भी करने में तू असमर्थ है तो सब कर्मों के फल का मेरे लिए त्याग कर। यह कैसे होगा? इसका जवाब नवें अध्याय के 27वें श्लोक में बताया गया है - तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है और आचरण रूपी जो कुछ तप करता है वह सब मेरे को अर्पण कर दे। इस तरह तू शुभ-अशुभ फल रूपी कर्म बंधन से मुक्त हो जाएगा और मुझे प्राप्त होगा। इस तरह अलग-अलग स्वभाव और क्षमता वाले लोगों के लिये आराधना की अलग-अलग विधियां गीता में बताई गई हैं।

प्र.55 मनुष्यों में दैवी और आसुरी सम्पदा क्या होती है?

उत्तर - दैवी सम्पदा का अर्थ है अच्छी या गुणात्मक प्रवृत्तियां। आसुरी सम्पदा का मतलब है बुरी या दुष्ट प्रवृत्तियां। गीता के 16वें अध्याय के आरम्भ में इसे समझाया गया है। पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकों में दैवी गुण उदाहरण सहित बताए गए हैं, जैसे - अंत:करण की शुद्धता, सात्विक दान, इन्द्रियों को वश में रखना, भगवान की भक्ति, शास्त्रों का अध्ययन, स्वधर्म का पालन, अभिमान और आसक्ति का त्याग आदि। ऐसे ही चौथे श्लोक में दुष्ट प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है - पाखंड, घमंड, कर्तापन का अभिमान, विषय-भोगों में आसक्ति, काम, क्रोध, लोभ आदि विकार, कठोर वाणी, अज्ञान आदि। आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य कैसे होते हैं इसे सातवें श्लोक से लेकर 18वें श्लोक तक विस्तारपूर्वक समझाया गया है। फिर 19वें श्लोक में भगवान कहते हैं कि ऐसे पापाचारी तथा क्रूर कर्मी नराधमों (अधम स्त्री-पुरुषों) को मैं बार-बार आसुरी योनियों में गिराता हूँ अर्थात् सूअर, कुत्ता आदि नीच योनियों में ही उत्पन्न करता हूँ। इससे भी आगे बढ़कर मैं उन्हें घोर नरकों में पटकता हूँ।

प्र.56 गीता में नरक के द्वार किन्हें बताया गया है?

उत्तर - सोलहवें अध्याय के 21वें श्लोक में कहा गया है कि काम, क्रोध और लोभ; ये तीनों नरक के द्वार हैं। ये जीवात्मा को अधोगति में ले जाने वाले हैं। वस्तुतः काम या कामनाएं तो मनुष्य को भटकाती हैं, क्रोध के वश में वह हत्या आदि पाप कर्म करता है और लोभ के कारण वह अन्याय, चोरी, रिश्वतखोरी, तस्करी, लूटपाट, बेईमानी आदि गलत कार्य करता है। ऐसे दुराचरण का फल भोगने के लिए वह अधोगति एवं नीच गति को प्राप्त होता है।

प्र.57 गीता में ब्रह्मा किसे कहा गया है?

उत्तर - आठवें अध्याय के 18वें श्लोक में ब्रह्मा को अव्यक्त सूक्ष्म शक्ति कहा गया है। सभी जीव इसी से उत्पन्न होते हैं और महाप्रलय के दौरान इसी में लय हो जाते हैं। इसी अध्याय के चौथे श्लोक में ब्रह्मा को अधिदैव, हिरण्यमय पुरुष, सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ व प्रजापति भी कहा गया है। इसके अलावा तेरहवें अध्याय के 16वें श्लोक में ब्रह्मा को परमात्मा का ही एक रूप बताया गया है - परमात्मा अपने विष्णु रूप से समस्त संसार को धारण करता है और पोषण करता है; वहीं ब्रह्मा रूप से सबको उत्पन्न करने वाला है तथा रुद्र रूप से संहार करने वाला है। उधर भागवत पुराण के ग्यारहवें स्कन्ध (अध्याय 4, श्लोक 5) में भी कहा गया है कि भगवान ने सृष्टि के लिये रजोगुण से ब्रह्मा, सतोगुण से विष्णु और तमोगुण से रुद्र की रचना की। इस ब्रह्मा को भी समस्त देवताओं सहित वासुदेव श्रीकृष्ण ने मरणशील बताया है। आठवें अध्याय के चार श्लोकों (16 से 19) में बताया गया है कि ब्रह्मा की आयु दिव्य सौ वर्ष है। आयु पूर्ण होने के बाद वह अपने लोक सहित शांत हो जाता है। भागवत पुराण और ब्रह्म संहिता में अनेक बार कहा गया है कि सृष्टि के सर्वाधिक शुद्ध प्रथम जीव को ही ब्रह्म कहा गया है। अब इसे व्यवहारिक दृष्टि से समझें - परब्रह्म रूपी सनातन अव्यक्त चेतन शक्ति सर्वोच्च है। इसी में समस्त प्रकृति की सूक्ष्मतम ऊर्जा निहित है। इस प्रकृति के प्रथम व्यक्त रूप को अपरा प्रकृति कहते हैं। इससे शक्ति की जो तीन धाराएं निकली, वे ही ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र हैं। प्रकृति की जिस शक्ति से संसार की रचना हुई उसे पुराणों में ब्रह्मा कह दिया गया। जिस शक्ति से अन्न, जल एवं वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है उसे विष्णु कहा गया। प्रकृति की जो शक्ति संहारकारी है उसे रुद्र कहा गया। इन्हीं को क्रमशः प्रकृति का रजोगुण, सतोगुण व तमोगुण भी कहते हैं। जब महाप्रलय होती है तो ये तीनों शक्तियां भी निष्क्रिय हो जाती हैं; अपनी प्रकृति में सिमट जाती हैं। गीता में इसी को यों कहा गया है कि 'ब्रह्मा भी शांत हो जाता है।'

प्र.58 ज्ञान रूपी यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ क्यों बताया है?

उत्तर - भगवान ने गीता में ज्ञानी भक्त को सर्वश्रेष्ठ कहा है (सातवें अध्याय का 17वां श्लोक)। इससे पहले चौथे अध्याय में उन्होंने ज्ञानी भक्त के अनेक लक्षण भी बताए हैं। इसी अध्याय में यज्ञ के अनेक रूपों का भी वर्णन है। इसके पश्चात तैंतीसवें श्लोक में भगवान कहते हैं कि सांसारिक वस्तुओं से सिद्ध होने वाले यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान रूपी यज्ञ सब प्रकार से श्रेष्ठ है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य द्वारा किए जाने वाले सम्पूर्ण कर्म अन्ततः ज्ञान में ही शेष होते हैं अर्थात् ज्ञान उनकी पराकाष्ठा है। ज्ञान रूपी यज्ञ से ही मोक्ष मिलता है। उधर जो यज्ञ सांसारिक वस्तुओं से सम्पन्न होते हैं उनसे केवल स्वर्ग लोक तक के सुख मिलते हैं, मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। इसके अलावा ज्ञान रूपी अग्नि में मनुष्य के सारे कर्म भस्म हो जाते हैं; ज्ञानी का कोई भी कर्म पाप नहीं होता है या बंधनकारी नहीं होता है; ज्ञानी समस्त संसार में परमात्मा चेतना के ही दर्शन करता है। इन्हीं कारणों से ज्ञान योग को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

प्र.59 पन्द्रहवें अध्याय में भगवान को पुरुषोत्तम क्यों कहा गया है?

उत्तर - परब्रह्म ही आत्मा रूप से देह रूपी 'पुर' में रहता है, इसलिये उसे पुरुष कहते हैं। इसी के सनातन अव्यक्त चेतन रूप को पुरुषोत्तम कहते हैं। इस प्रसंग को पन्द्रहवें अध्याय के तीन श्लोंकों (16, 17, 18) में अच्छी तरह समझाया गया है - संसार में क्षर और अक्षर यानि नाशवान और अविनाशी ये दो प्रकार के पुरुष हैं। उनमें समस्त प्राणियों के शरीर तो नाशवान और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है। इन दोनों से उत्तम पुरुष तो कोई अन्य ही है जो परमेश्वर या परमात्मा कहा जाता है। क्योंकि मैं नाशवान जड़ जीव (क्षर पुरुष) और अविनाशी जीवात्मा (अक्षर पुरुष); इन दोनों से बहुत ऊपर और उत्तम हूँ, इसलिए वेदों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। पर ब्रह्म और पुरुषोत्तम आपस में पर्याय हैं।

प्र. 60 हमारे ज्ञान का शत्रु किसे कहा गया है?

उत्तर - तीसरे अध्याय के सात श्लोकों (37 से 43) में इस सवाल का जवाब है - हमारे ज्ञान का शत्रु काम अर्थात् भोगवादी कामनाएं हैं। ये कभी भी तृप्त नहीं होती हैं। जीवन भर मनुष्य को दैहिक भोगों में भटकाकर उसका पतन करती रहती हैं। जिस तरह धुआं अग्नि को और मैल दर्पण को ढक लेता है वैसे ही विषय भोग वाली ये कामनाएं हमारे आत्मज्ञान पर आवरण फैला देती हैं; 'मैं आत्मा हूं, देह नहीं', इस ज्ञान को आजीवन भुलाए रखती हैं। इसलिए यह काम तो ज्ञानियों का भी दुश्मन है। इसका निवास इंद्रियों, मन व बुद्धि में रहता है। ये तीनों ही त्रिगुणात्मक हैं, इसलिए काम की आसक्ति में फंस

जाते हैं। आत्मा नित्य मुक्त व चेतन है। अतः आत्मशक्ति से बुद्धि, मन व इन्द्रियों को क्रमशः वश में करो। तभी काम रूपी इस शत्रु से छुटकारा मिलेगा।

प्र.61 कौन से मनुष्यों का परमार्थ भ्रष्ट हो जाता है?

उत्तर - परमार्थ का अर्थ है परलोक; मृत्यु के बाद वाली सद्गति। भ्रष्ट हो जाने का मतलब है, बिगड़ जाना। इस तरह 'परमार्थ भ्रष्ट' हो जाने का तात्पर्य है परलोक वाली सद्गति बिगड़ जाती है। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य का अधो योनियों में पुनर्जन्म होता है।

अब देखें कि ऐसा क्यों होता है? गीता में चौथे अध्याय के चालीसवें श्लोक में भगवान कहते हैं कि - 1. जो स्त्री-पुरुष भगवद् विषय को नहीं जानते। 2. यदि जानते हैं तो उनमें श्रद्धा नहीं रखते और 3. ईश्वर तथा पूर्ण संत-महात्माओं के प्रति भी संशय का भाव रखते हैं; वे सब परमार्थ से भ्रष्ट हो जाते हैं। इसमें भी सर्वाधिक नुकसान तो अविश्वासी संशयग्रस्त लोगों को होता है। उनको न तो इस लोक में सुख मिलता है और न ही मृत्यु के बाद सद्गति मिलती है।

भगवद् विषय का अर्थ है 1. भगवान के अस्तित्व में विश्वास रखना। 2. ईश्वर की महिमा का वर्णन करने वाले वेद, पुराण आदि ग्रन्थों में आस्था रखना। 3. प्रभु का ज्ञान कराने वाले साधु-संतों का सम्मान करना। 4. नवधा भक्ति में विश्वास रखना। 5. सत्संग में मन लगाना आदि। ये सब प्रभु तक पहुँचाने वाले मार्ग हैं। इनके प्रति श्रद्धा भाव रखना चाहिए। इन पर शक नहीं करना चाहिए।
अठारहवें अध्याय के 58वें श्लोक के अनुसार अहंकार भी परमार्थ से भ्रष्ट कर देता है। जो लोग अहंकार वश गीता ज्ञान की उपेक्षा करते हैं या संत-महात्माओं की शिक्षा की अवहेलना करते हैं उनका भी परमार्थ बिगड़ जाता है - 'इस तरह तू निरन्तर मेरे में मन लगाने वाला रहने से मेरी कृपा प्राप्त करेगा। मेरी कृपा तुझे जन्म-मृत्यु सभी संकट पार करा देगी। ...और यदि तू अहंकार वश मेरे वचनों को नहीं सुनेगा तो परमार्थ से भ्रष्ट हो जाएगा।' ...तो भगवान में अनास्था, अश्रद्धा, संशय और अहंकार वश उनकी उपेक्षा ये चार मोटे कारण हैं जो मनुष्य के परमार्थ को भ्रष्ट करते हैं।

प्र.62 'ॐ' के विषय में श्रीकृष्ण ने क्या कहा है?

उत्तर - यह ॐ अक्षर रूप ब्रह्म है; ऐसा आठवें अध्याय के तेरहवें श्लोक में कहा गया है। वे अपने सखा अर्जुन को समझाते हैं कि ध्यान योग की मुद्रा में बैठकर इस ॐ का

उच्चारण तथा परमात्मा रूप श्रीकृष्ण का चिंतन करने से मनुष्य को परम गति प्राप्त होती है। मोक्ष गति प्राप्त करने वाले योगी-महात्मा इसी अवस्था में देह त्याग करते हैं।

अनेक विद्वानों ने भी इसे एक अक्षरी महामंत्र कहा है। इसमें अ, उ, म क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, महेश (रुद्र) के प्रतीक हैं। इसी भांति अर्द्ध चन्द्र क्रमशः अक्षर व परब्रह्म का सूचक है। ऐसा माना जाता है कि पूरे ब्रह्माण्ड में अनादि काल से यही पराध्वनि गूंज रही है। योगी जन इसी को अपने हृदय में 'अनहत-नाद' के रूप में सुनते हैं।

भगवान, जीव, संस्कार, परमगति

प्र. 63 भगवान का ध्यान कैसे करें?

उत्तर - गीता में भगवान ने तीन बार यह कहा है कि मैं प्राणियों के हृदय में रहता हूँ। इसका तात्पर्य यह है कि भगवान आत्म रूप से हमारे भीतर निवास करते हैं। अतः हमें अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी करते हुए हृदयस्थ परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। इसके लिए श्रीकृष्ण ने यह भी कहा है कि दोनों भृकुटियों के मध्य वाले स्थान पर नज़र स्थिर करो, ओम् का उच्चारण करते हुए मेरे स्वरूप का चिंतन करो। यह कैसे करें? इसका जवाब यह है कि अपनी कल्पना में हृदयस्थ भगवान को देखने का अभ्यास करो, चाहे सगुण रूप का और चाहो तो निर्गुण ज्योति रूप का। धीरे-धीरे यही कल्पना साकार हो जाती है। इसी के साथ संयम, सदाचरण, नाम सुमिरन आदि का भी निरन्तर अभ्यास जरूरी है।

प्र. 64 चतुर्भुज रूप के ईश्वरीय दर्शन किस तरह सम्भव है?

उत्तर - इसके लिये ग्यारहवें अध्याय में श्लोक 54 व 55 को देखें। 54वें श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा है कि अनन्य भक्ति से कोई भी मनुष्य मेरे इस रूप के दर्शन कर सकता है, मुझे तत्व से जान सकता है और अन्ततः मुझमें प्रवेश कर सकता है। इसे समझाते हुए अगले श्लोक में कहते हैं कि 1. ऐसा मनुष्य केवल मेरे लिये ही यज्ञ, दान, तप आदि सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्म करे। 2 अपने मन में पक्की धारणा कर ले कि उसका कुछ नहीं है सब कुछ मेरा है। 3. पूरी तरह से मेरे आश्रित हो जाए। 4. मुझे ही अपने जीवन का परम लक्ष्य बना ले। 5. मेरी नियमित भक्ति करे - नाम, गुण, प्रभाव आदि से संबंधित कथाएं सुने, कीर्तन करे, मेरे स्वरूप का मनन करे, मेरा ही ध्यान करे और मेरी ही महिमा का पठन-पाठन करता रहे। 6. आसक्ति रहित रहे अर्थात् स्त्री - पुत्र - धन व अन्य सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति नहीं रखे। 7. किसी भी प्राणी के प्रति बैर भाव नहीं रखे। इस तरह दोनों श्लोकों में भगवान वासुदेव ने वह विधि समझाई है जिसके सहारे हमें उनके चतुर्भुज रूप के दर्शन हो सकते हैं। इस बात से यह भी स्पष्ट होता है कि चतुर्भुज रूप के दर्शन ज्ञान योग और कर्म योग से सम्भव नहीं है। यह केवल अनन्य भक्ति से ही हो सकते हैं।

प्र. 65 मनुष्य में अहंकार कहाँ से आता है?

उत्तर - मैं कर्त्ता हूँ, इस भाव को या अभिमान को अहंकार कहते हैं। मनुष्य में यह त्रिगुणात्मक प्रकृति से आता है। हमने पहले भी लिखा है कि अपरा प्रकृति से सर्वव्यापी महत् तत्व (समष्टि बुद्धि चेतना) व्यक्त हुआ था। इसी महत् शक्ति के तमोगुणी अंश से

अहंकार का भाव व्यक्त हुआ। यह अहंकार मनुष्य के पंच विकारों में भी शामिल है। हमारी बुद्धि में अपने आप को ही सबकुछ समझने का जो विचार है वही अहंकार है। यह भोगवादी क्रियात्मक भाव है। इस अहंकार भाव से भी मनुष्य का पतन होता है। इसके भी तीन रूप हैं - सतोगुणी अहंकार हमें आत्म चेतना के निकट ले जाता है। रजोगुणी अहंकार हमें कामनाओं की पूर्ति में लिप्त कर देता है और यही हमसे पाप कराता है (गीता अध्याय 2 श्लोक 62, 63 और अध्याय 3 श्लोक 37)। तमोगुणी अहंकार हमें आलसी बनाता है, हमें अकर्मण्य बनाता है और हमारे में प्रमाद पैदा करता है। इन तीनों प्रकार के अहम् भावों से छूटकर ही मनुष्य आत्म रूप में स्थिर हो सकता है।

प्र. 66 जीवों को उत्पन्न कौन करता है - ब्रह्म या ब्रह्मा?

उत्तर - परब्रह्म तो कुछ नहीं करता है। वह तो सनातन अव्यक्त चेतना है। जीवों की उत्पत्ति ब्रह्मा ही करता है। आठवें अध्याय के 18वें श्लोक में कहा गया है कि सम्पूर्ण प्राणी ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होते हैं और महाप्रलय के दौरान अव्यक्त नामक ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर में ही लय हो जाते हैं। यह ब्रह्मा परमात्मा का ही एक रूप है। तेरहवें अध्याय के 16वें श्लोक में यही बात कही गई है - परमात्मा ही ब्रह्मा रूप से सबको उत्पन्न करने वाला है।

प्र. 67 मनुष्य स्वर्ग या नरकगामी किस आधार पर होता है?

उत्तर - इसका जवाब चौदहवें अध्याय के दो श्लोकों (14-15) में दिया गया है - जब कोई स्त्री या पुरुष सत्व गुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है तब तो उसे दिव्य स्वर्ग आदि लोकों में गति मिलती है।

इसके विपरीत तमोगुण के बढ़ने पर मरा हुआ मनुष्य नरक या अधो योनियों में जन्म लेता है। रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होकर प्राणी पुनः मनुष्य योनि में उत्पन्न होता है। गुणवृद्धि का मतलब है - सात्विक, राजसिक व तामसिक कर्मों की अधिकता। जो स्त्री-पुरुष तमोगुणी स्वभाव के कारण अकर्त्तव्य वाले कर्म अधिक करते रहते हैं, अज्ञान से मोहित रहते हैं, पाप कर्म करते रहते हैं उनकी मृत्यु के समय भी ऐसी ही तामसिक प्रवृत्ति रहती है। इसके विपरीत सत्व गुणी स्वभाव वाले लोगों की प्रवृत्ति अन्तिम समय भी उत्तम कोटि की ही रहती है। कुल मिलाकर हम आजीवन जिस तरह के कर्म करते रहे हैं उन्हीं के आधार पर हम स्वर्ग या नरकगामी होते हैं।

प्र. 68 परम गति किसे कहा गया है?

उत्तर - गीता में बीसों बार परम गति शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि अनन्य भक्त को, तत्वज्ञानी को और निष्काम योगी को परम गति मिलती है। इस परम गति का अर्थ है - मोक्ष। फिर परम गति यानि सर्वोच्च गति, ऐसी अवस्था कि जिससे आगे कोई गति नहीं है, कोई लक्ष्य नहीं है, अन्य कुछ भी प्राप्य शेष नहीं है। इस मनुष्य योनि में पैदा होकर यह जीव अपने विकास के जिस अन्तिम बिन्दु तक पहुंच सकता है वहाँ पहुंच गया। जैसे, दुनियां के सर्वोच्च शिखर एवरेस्ट पर चढ़ जाने के बाद और कोई शिखर शेष नहीं है, वैसे ही दिव्य बैकुण्ठ धाम, मोक्ष, परब्रह्म में प्रवेश या परम गति से आगे कुछ भी नहीं है। यही परम गति का अर्थ है।

प्र. 69 ब्रह्म अवस्था में विचरण का क्या अर्थ है?

उत्तर - शास्त्र कहते हैं कि जो ब्रह्म को जान लेता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। देहधारी मनुष्य के ब्रह्म हो जाने का यह अर्थ है कि संसार में रहते हुए भी वह ब्रह्म अवस्था में विचरण करता है। इस ब्रह्म अवस्था में 1. देहाभिमान और आसक्ति शून्य हो जाते हैं। 2. मनुष्य त्रिगुणों की पकड़ से छूट जाता है। 3. वह आत्म स्वरूप में स्थित हो जाता है। 4. उसे छहों ऐश्वर्य (पूर्ण ज्ञान, समृद्धि, वैराग्य, यश, श्री और धर्म) प्राप्त होते हैं फिर भी वह इनका उपयोग नहीं करता है। 5. वह स्वयं के लाभ के लिये कोई भी कर्म नहीं करता; जो कुछ भी करता है परोपकार के लिये करता है। 6. समय आने पर वह योगियों की तरह मृत्यु का वरण करता है। इन लक्षणों से युक्त स्थिति को ही ब्रह्म अवस्था में विचरण कहा गया है।

प्र. 70 चित्त क्या है? इसमें संस्कारों का संचय किस तरह होता है?

उत्तर - हमारे अंत:करण में महर्षि पतंजलि के अनुसार चार तत्व हैं - चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार। इनमें चित्त ज्ञान रूप, मन कामना रूप, बुद्धि विचार रूप और अहंकार क्रिया रूप होता है। चित्त वस्तुतः श्वेत वर्ण वाला चेतन ऊर्जा पुंज होता है। यह जीवात्मा को लगभग स्पर्श किए हुए रहता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्ति का स्फुरण सबसे पहले चित्त में ही होता है। यह स्फुरण संस्कारों के कारण होता है। हम जो कुछ भी कर्म करते हैं वो सोच विचार के करते हैं और उनके अति सूक्ष्म कर्माणु चित्त में संचित हो जाते हैं। देखिए, संसार में प्रत्येक भौतिक पदार्थ अणु-परमाणु से ही बना होता है। पत्थर के परमाणु को भी तोड़ दें तो वह ऊर्जा रूप में रह जाएगा। तो हम कह सकते हैं कि पत्थर का भी सूक्ष्मतम रूप ऊर्जा है। इसी तरह कर्मों का भी सूक्ष्मतम रूप ऊर्जा है; कर्माणुओं रूपी चेतना है। यही कर्माणु चेतना चित्त में संचित रहती है। यह आश्चर्यजनक तो लगता है। आज आप देखते

हैं कि डी.वी.डी प्लेयर में चलने वाली सीडी/डीवीडी या पेन ड्राइव में दृश्य और आवाज चुम्बकीय विद्युत के रूप में संचित रहती है। यह भी इस धरती का घोर आश्चर्य है लेकिन इस विषय में मनुष्य कभी सोचता नहीं है। अब आप विचार कीजिए कि जब सारी दुनियां के चित्र खींचकर और विविध आवाजों को इलेक्ट्रॉनिक प्रक्रिया के जरिए चुम्बकीय विद्युत में संचित करके चाहे जब टीवी के पर्दे पर प्रत्यक्ष किया जा सकता है तो फिर चित्त में ऐसा क्यों नहीं हो सकता। ये उपकरण तो उन मनुष्यों ने बनाए हैं जिनका मस्तिष्क ज्यादा से ज्यादा पांच प्रतिशत सक्रिय होता है। दूसरी तरफ मनुष्यों की नियन्ता जो परब्रह्म चेतना है उसमें तो मानव मस्तिष्क की शत-प्रतिशत सक्रियता निहित है। चित्त उसी के प्रबंधन में होता है। इसलिये चित्त के स्वरूप पर चौंकने की जरूरत नहीं है बल्कि इसे साफ-सुथरा रखने की आवश्यकता है। चित्त में संचित सारे कर्माणु जब मिट जाते हैं तो चित्त निर्मल हो जाता है, स्थिर हो जाता है और यही जीवन की परम गति है।

प्र. 71 क्या श्रीकृष्ण से पहले भी यह मोक्ष ज्ञान प्रचलित था?

उत्तर - जी हाँ, यह मोक्ष ज्ञान तो सनातन है। चौथे अध्याय के पहले श्लोक में इस योग ज्ञान को अविनाशी कहा है यानि यह ज्ञान तो सनातन प्रवाह की तरह है जो प्रत्येक कल्प और मन्वंतर में विद्यमान रहता है। वासुदेव कहते हैं कि मैंने ही कल्प के आरम्भ में यह ज्ञान सूर्य के प्रति कहा था, सूर्य ने मनु के प्रति और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु के प्रति कहा। इस तरह परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने (वे राजा जो ऋषियों जैसा जीवन व्यतीत करते थे) जाना। परन्तु यह योग बहुत काल से इस पृथ्वी लोक में प्रायः लुप्त हो गया था। वही पुरातन योग अब मैंने तेरे लिए कहा है। यह सुनकर अर्जुन ने पूछा कि आपका जन्म तो अभी हुआ है; तो फिर कल्प के आरम्भ में आपने यह योग सूर्य के प्रति कैसे कह दिया था। तब श्रीकृष्ण बोले - कि मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं जिन्हें केवल मैं जानता हूँ। मैं प्रत्येक युग में दुष्टों का नाश करने तथा धर्म की पुनर्स्थापना करने के लिये किसी न किसी रूप में अवतरित होता हूं। ...इससे स्पष्ट होता है कि कल्प के आरम्भ में भी परमात्मा ने श्रीकृष्ण जैसे ही महान पुरुष की तरह मनुष्य देह में अवतार लिया होगा और अर्जुन जैसे ही योग्य मनुष्य (सूर्य) को यह उपदेश दिया होगा।

पुराणों में जिक्र आता है कि ब्रह्मा के दस मानस पुत्रों में दक्ष प्रजापति भी थे। उनकी तेरह कन्याओं का विवाह कश्यप ऋषि के साथ हुआ था। उनमें अदिति से जो बारह पुत्र हुए उसमें सूर्य और बैवस्वान मनु भी थे। यहाँ हम केवल यह समझाना चाहते हैं कि भगवान ने जिस सूर्य को कल्प के आरम्भ में योग का ज्ञान दिया था वह कोई मनुष्य ही था, आकाश में चमकने वाला तारा नहीं।

इसका एक विश्लेषण और मिलता है - यह सम्पूर्ण ज्ञान परावाणी में था। ब्रह्मा जी ने तपोबल से चारों वेदों के साथ-साथ इस योग ज्ञान को भी प्राप्त किया। यहाँ तक भी यह ज्ञान परावाणी में ही था। इसके बाद ब्रह्माजी के मानस पुत्रों (देहधारी महर्षि) को यह ज्ञान उच्च ध्यानावस्था में प्राप्त हुआ। सूर्य भी कोई ऐसे ही ऋषि थे जिन्होंने योगावस्था में इस परावाणी को सुना। इस तरह यह सनातन ज्ञान देहधारी ऋषियों में प्रवाहित होने लगा। श्रीकृष्ण यही बात समझाना चाहते हैं।

प्र. 72 चौथे अध्याय के अनुसार साधना के चार तत्व कौन से हैं?

उत्तर - चौथे अध्याय के अनुसार साधना की सफलता के लिए ये चार बातें बताई गई हैं - 1. श्रद्धा 2. इन्द्रिय संयम 3. संशय रहित होना तथा 4. तत्परता। इन चारों के समन्वय से ही साधना सफल होती है। इष्ट या गुरु में श्रद्धा पहली अनिवार्यता है। श्रद्धा के बिना भक्ति भाव नहीं जागेगा। फिर संशय रहित होना भी जरूरी है। गुरु की क्षमता या इष्ट की कृपालुता के प्रति यदि आप आशंकित हैं तो श्रद्धा भी धीरे-धीरे मिट जाएगी। संशय तो साधक का सबसे बड़ा शत्रु है। यदि गुरुमंत्र के प्रति आपके मन में संदेह है तो वह मंत्र कभी भी सिद्ध नहीं होगा।

इसके बाद इंद्रिय संयम भी अनिवार्य है। कोई भी मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, आसक्ति आदि को साथ लेकर साधना में सफल नहीं हो सकता है। ये सब सांसारिक प्रवृत्तियां हैं जबकि साधना आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। इन सब के साथ तत्परता अर्थात् निरन्तर अभ्यास भी आवश्यक है। अभ्यास के बिना कुछ भी नहीं मिलता है। यह अभ्यास कई जन्मों तक भी जारी रह सकता है।

दुःख, सुख, जप, धर्म, अध्यात्म

प्र. 73 ज्ञान की अग्नि से कर्म कैसे भस्म हो जाते हैं?

उत्तर - ज्ञान का मतलब यहाँ परमात्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति से है। इस संसार में परमतत्व ही ज्ञेय (ज्ञात करने योग्य) है। उसे ज्ञात कर लेना ही ज्ञान है। तो जब परमात्मा स्वयं ही तुम्हारे भीतर प्रकट हो गया तो तुममें पूर्व जन्मों के कर्म-संस्कार कैसे बचे रहेंगे? सूर्य की धूप में कपड़ों का गीलापन सूख जाता है। बिजली जलते ही अंधेरा मिट जाता है। इसी भांति आत्मज्ञान होते ही देहभाव समाप्त हो जाता है। इस देहभाव में ही कर्म-संस्कार रहते हैं। 'मैं' का अभिमान भी संस्कार है। अब न तो 'मैं' है, न देहभाव; त्रिगुणात्मक प्रकृति से परे निकल गए। व्यक्तिगत से सार्वजनीन हो गए। व्यष्टि मन समष्टि मन में प्रवेश कर गया। व्यष्टि बुद्धि महत् तत्व (समष्टि बोध शक्ति) को पार करके दिक् व काल का अतिक्रमण करती हुई सनातन अव्यक्त चेतना में प्रवेश कर गई। ...कहाँ रहेंगे बंधनकारी कर्म? रामकृष्ण परमहंस ने अपने शिष्य नरेन्द्र पर शक्तिपात किया - नरेन्द्र के भीतर से अहंता, ममता, आसक्ति आदि तिरोहित हो गई; बंधनकारी संस्कार एक ही झटके में मिट गए। नरेन्द्र ने काली माता को साक्षात देख लिया था। पूरी दुनियां में उसके लिए परम तत्व के अलावा कुछ भी द्दष्य नहीं था। इसीलिए गीता में चौथे अध्याय के 37वें श्लोक में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा है कि जैसे प्रज्वलित अग्नि ईधन को भस्म कर देती है वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि में समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं।

रामकृष्ण परमहंस एक बार गंगा घाट से लौट रहे थे। रास्ते में किसी भिखारिन को देखकर बोले कि 'मां, आज ऐसा वेश क्यों धारण किया है?' ऐसा होता है ज्ञानी? वह ब्रह्म अवस्था में विचरण करता है।

पहले जब किसी को संन्यास की दीक्षा देते थे तो उसे श्मशान में ले जाकर चिता पर लेटा देते थे। तब उसे कहा जाता था - तू मर गया है, तेरा यह शरीर चिता में जल कर राख हो गया है। अब तू देह नहीं; आत्मा है। फिर चिता से उठा कर उसे अग्नि के प्रतीक गेरुआ वस्त्र पहनाया जाता था। देह की आसक्ति जल गई। उसी के साथ देहाभिमान वाले कर्म भी भस्म हो गए। वह संन्यासी शेष जीवन भर आत्मभाव से रहता है। ...ज्ञानी भी आत्मभाव में स्थित रहता है। इसलिए उसके कर्म नष्ट हो जाते हैं।

प्र.74 कर्म, ज्ञान व भक्ति के विषय में निर्णायक रूप से गीता क्या कहती है?

उत्तर - निष्काम कर्म योग में प्रभु के प्रति आत्म समर्पण है; ज्ञान योग में आत्म बल और; भक्ति में आत्म विसर्जन है। योगी कहता है कि 'मैं' भगवान के भरोसे हूँ। ज्ञानी का मानना है कि 'मैं' स्वयं ही ब्रह्म हूँ। भक्त की धारणा है - 'मैं' तो हूँ ही नहीं; आप ही आप हैं। मतलब यह कि केवल भक्ति में 'मैं' का विसर्जन है। जब मैं नहीं तो मोक्ष की इच्छा कौन करें? इसलिए भक्त में मोक्ष की कामना भी नहीं रहती यानि वह ब्रह्म में प्रवेश करके तदाकार होना नहीं चाहता। वह तो सदैव 'भक्त' बने रहना चाहता है।

प्र. 75 त्रिताप कौन-कौन से हैं?

उत्तर - ताप यानि दुःख। संसार में तीन प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं - 1. आधि भौतिक अर्थात् मनुष्य, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि प्राणियों से मिलने वाले कष्ट; 2. आधि दैविक यानि अकाल, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भूकम्प, ज्वालामुखी फटना आदि दैवी प्रकोप में होने वाले दुःख; तथा 3. शारीरिक व मानसिक रोगों को आध्यात्मिक ताप कहा गया है। संसार में सम्भावित समस्त कष्टों को इन तीन श्रेणियों में समेटा गया है।

76 दसवें अध्याय में आए ऋषि, महर्षि व देवर्षि में क्या अंतर है?

उत्तर - ऋषि तो सत्य के दृष्टा व मंत्र दृष्टा को कहा गया है। वायु पुराण के अनुसार जिस महात्मा में ज्ञान, सत्य, तप और श्रवण; ये चारों गुण हों उसे ऋषि कहते हैं।

ऋषि वाले गुणों के अलावा महर्षि में ये विशेषताएं भी होती हैं - यज्ञ करना-कराना, पढ़ना-पढ़ाना, दान लेना-देना, घर में गुरुकुल चलाना तथा प्रजा की उत्पत्ति के लिये स्त्री को ग्रहण करना। उदाहरणार्थ वेद साहित्य में मरीचि, अंगीरा, अत्री, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ, इन सात महर्षियों के नाम आते हैं। ये महर्षि गण दिव्य दृष्टि से युक्त होते हैं, गोत्र चलाने वाले होते हैं, मंत्र कर्ता एवं धर्म प्रवर्तन वाले होते हैं। ये ब्रह्मा के मानस पुत्र थे। प्रजा की उत्पत्ति करने और उसे संस्कारित करने के कारण इन्हें सप्त ब्रह्मा या प्रजापति भी कहा गया है। इनके अलावा वर्तमान मन्वन्तर के सात महर्षियों के नाम इस प्रकार हैं - वशिष्ठ, कश्यप, अत्रि, गौतम, भारद्वाज, जमदग्नि और विश्वामित्र।

देवर्षि उन्हें कहा गया है जो देव लोक में निवास करते हैं और देवताओं को भी अपने अधीन रख सकते हैं। ये त्रिकालदर्शी होते हैं, सब लोकों में भ्रमण कर सकते हैं, इच्छानुसार संसार से संबंध स्थापित कर सकते हैं। कुछ देवर्षियों के नाम हैं - नारद असित, वत्सर, कर्दम, नर, नारायण आदि।

प्र.77 कर्ताभिमान एवं भोक्ता भाव का क्या तात्पर्य है?

उत्तर - गीता के दूसरे अध्याय के अनेक श्लोकों में मनुष्य को चेताया गया है कि वह दो दुर्गुणों से बचे - 1. मैं कर्ता हूँ - ऐसा अभिमान नहीं करे 2. मैं ही भोक्ता हूँ - ऐसी आसक्ति नहीं रखे। वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य को अपने संस्कारों या स्वभाव के अनुसार कर्म करने पड़ते हैं। ये कर्म उसे कर्त्तव्य भाव से करने चाहिए और यह सोचना चाहिए कि करने-धरने वाले तो परमात्मा हैं, मैं तो निमित्त हूँ। जब मनुष्य इस तरह नहीं सोचकर स्वयं को ही सब कुछ समझने लगता है तो उसको कर्त्ताभिमान कहते हैं।

भोक्ता का अर्थ है - भोग करने वाला। जब मनुष्य यों सोचता है कि मेरे द्वारा किए गए परिश्रम का फल भी मुझे ही मिलना चाहिए और पर्याप्त मात्रा में मिलना चाहिए तो इसे भोक्ता भाव कहते हैं। यह भोक्ता भाव भी मनुष्य का पतन करता है। तीसरे अध्याय में समझाया गया है कि कर्ता होने के अहंकार और भोक्ता होने की आसक्ति को छोड़े बिना मनुष्य का कल्याण असम्भव है।

प्र.78 अनन्य भक्ति किसे कहा गया है?

उत्तर - आठवें अध्याय के 22वें श्लोक में कहा गया है कि परमात्मा अनन्य भक्ति से प्राप्त होने योग्य है। इसका अर्थ है अन्य देवी-देवताओं की पूजा आदि छोड़कर केवल परब्रह्म श्रीकृष्ण की ही भक्ति करना। मन, कर्म और वचन से श्रीकृष्ण की ही आराधना करना। किसी भी परिस्थिति में इस भक्ति भाव से विचलित नहीं होना। अध्याय ग्यारह के 55वें श्लोक में इस अनन्य भक्ति के लक्षण बताए गए हैं - 1. सम्पूर्ण कर्म तथा यज्ञ, दान और तप भी श्रीकृष्ण को अर्पित करना 2. केवल श्रीकृष्ण के आश्रित रहना 3. श्रीकृष्ण के नाम, गुण का कीर्तन करना 4. केवल श्रीकृष्ण का ध्यान करना 5. समस्त जीवों में श्रीकृष्ण की चेतना को देखते हुए उनके प्रति प्रेम भाव रखना। ऐसे ही लक्षणों से युक्त भक्ति को अनन्य भक्ति कहा गया है।

प्र. 79 जप को यज्ञ क्यों कहा है?

उत्तर - दसवें अध्याय के 25वें श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा है कि मैं सब प्रकार के यज्ञों में जप यज्ञ हूँ। जप का अर्थ होता है भगवान के नाम का स्मरण करते रहना। चाहे मुंह में बोलकर, चाहें कंठ में और चाहे मानसिक रूप से स्मरण करना। तो सुमिरन या स्मरण को जप कहते हैं। यज्ञ का मतलब है - ईश्वर से मिला देने वाली आराधना, साधना या कर्म विधि। इस तरह जप यज्ञ का तात्पर्य हुआ, ऐसा नाम सुमिरन जो ब्रह्म में प्रवेश दिला दे। चूंकि ईश्वर का नाम और ईश्वर एक ही हैं, नाम और नामी अभेद होता है, नाम ईश्वर का

सूक्ष्म रूप होता है। इसलिए भगवान ने स्वयं को जप यज्ञ कहा है। अन्य सारी यज्ञ विधियां तो ईश्वर से अलग हैं और ईश्वर तक पहुँचाने वाली होती हैं किन्तु नाम में तो ईश्वर स्वयं निहित है। इसी कारण श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं नाम रूपी जप यज्ञ हूँ।

प्र. 80 देवता और महर्षि भी श्रीकृष्ण के परब्रह्म रूप को नहीं जानते - ऐसा क्यों कहा है?
उत्तर - इसका जवाब स्वयं श्रीकृष्ण ने ही 18वें अध्याय के दूसरे श्लोक में दिया है - 'क्योंकि मैं इन सब की उत्पत्ति का भी आदि कारण हूँ। इसका अर्थ यह है कि यों तो ये सब ब्रह्मा के सूक्ष्म अव्यक्त रूप से उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा मेरे महाविष्णु रूप से और महाविष्णु मेरे ब्रह्म रूप से उत्पन्न है। मैं इससे भी परे सनातन अव्यक्त चेतना रूप परब्रह्म हूँ। इसे करोड़ों मनुष्यों, महर्षियों व देवों में कोई एक ही देख पाता है।' अन्यथा किसी को ब्रह्मा या विष्णु या रुद्र के दर्शन होते हैं; किसी को महाविष्णु के दर्शन का सौभाग्य मिलता है। किन्तु मेरे इस सच्चिदानंद रूप के दर्शन तो बहुत दुर्लभ हैं।

दूसरी बात यह कि जो देवता और महर्षि अभी अस्तित्व में हैं वे सब ब्रह्मा के माध्यम से मेरी ही माया द्वारा व्यक्त प्रकृति के अधीन हैं। ये मुझे कैसे जानेंगे? जब ये भी प्रकृति से परे निकलकर मुझमें प्रवेश करेंगे तो संसार में इनका अस्तित्व नहीं रहेगा। ...तो जिन्होंने परब्रह्म को जान लिया वे स्वयं ब्रह्म हो गए; देवता या महर्षि नहीं रहे। जब तक वे मनुष्य, महर्षि या देवता की संज्ञा धारण किए हुए हैं तब तक परब्रह्म उनसे दूर है। पानी की बूंद जब तक अपना अस्तित्व बचाए हुए है, वह समुद्र को नहीं जान सकती। समुद्र हुए बिना समुद्र को नहीं जाना जा सकता है। ...तो बूंद ज्यों ही समुद्र में गिरी स्वयं समुद्र हो गई; बूंद वाली पहचान मिट गई। ऐसे ही जब तक देवता या महर्षि वाली पहचान नहीं मिटेगी तब तक ब्रह्म को नहीं जान सकते।

प्र. 81 चित्त को परमात्मा में लगाने के लिए मनुष्य क्या करें?
उत्तर - चित्त का एकतान प्रवाह जब सहज रूप से यानि अपने आप प्रभु की तरफ होने लगे तो समझो कि वह परमात्मा में लग गया है। इस अवस्था तक पहुंचना बहुत कठिन है। इसका उपाय छठे अध्याय के 35वें और अध्याय बारह के नौवें श्लोक में बताया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि बार-बार अभ्यास करके तथा वैराग्य भाव से चित् या मन को प्रभु की तरफ लगाया जा सकता है।

अभ्यास का अर्थ : 1. भगवान का कीर्तन करना 2. उनकी महिमा सुनना, पढ़ना व चिन्तन करना 3. नाम का जाप करना 4. सांस की गति के साथ प्रभु का नाम मिला देना

5. जब भी चित् सांसारिक विषयों की तरफ जाए, उसे प्रभु-चिन्तन की तरफ लगा देना। किन्तु यह अभ्यास लंबे समय तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक करते रहने से ही परिपक्व होता है।

वैराग्य का अर्थ : योग दर्शन (1/15) में कहा गया है कि स्त्री, धन, मकान, मान और प्रशंसा के प्रति आसक्ति त्याग दो। इसी भांति स्वर्गादि लोकों के सुखों की भी कामना मत रखो। जब चित् इस प्रकार लौकिक-पारलौकिक कामनाओं को वशीभूत कर ले, उस अवस्था को वैराग्य कहते हैं। पन्द्रहवें अध्याय के तीसरे श्लोक में भी समझाया गया है कि अहंता, ममता और वासना को वैराग्य रूपी शस्त्र से काटना चाहिए। ...वैराग्य का मतलब है सांसारिक भोगों के प्रति राग विहीन हो जाना; विषय वस्तुओं के प्रति कामना, आसक्ति आदि से ऊपर उठ जाना; प्राणियों के प्रति राग-द्वेष से स्वयं को मुक्त कर लेना।

उपर्युक्त उपाय निरन्तर करते हुए चित् या मन को प्रभु-भक्ति में स्थिर किया जा सकता है।

प्र. 82 श्रीकृष्ण ने स्वयं को पितरों में अर्यमा क्यों कहा?

उत्तर - अर्यमा सर्वश्रेष्ठ पितर या पितरों का प्रधान है; इसलिए 10वें अध्याय के 24वें श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा कि 'मैं' पितरों में **अर्यमा** हूँ।

पितरलोक की स्थिति 'चन्द्रलोक' में कहीं बताई जाती है। जिन मनुष्यों का अपने परिवार के प्रति अतिशय मोह रहता है और जीवन के अंतिम क्षणों में भी वे इतने ही मोह युक्त रहते हैं, वे मृत्यु के बाद पितृलोक में जाते हैं। यहाँ की व्यवस्था सात पितरगण करते हैं - अर्यमा, अनल, सोम, यम, कव्यवाह, अग्निष्यात तथा बहिर्षद। अर्यमा इनका प्रधान है। यहाँ रहने वाले पितर अपने परिवारजनों के कष्ट काटते हैं; इसीलिए पितरों के भोग लगाया जाता है। धरती पर जिस ब्राह्मण को पितरों का नियमित भोजन कराया जाता है, यदि वह ब्राह्मण नियमित पूजा-पाठी है और उस पितर का निष्ठापूर्वक आव्हान करता है तो पितर उसमें आवेशित होकर भोजन ग्रहण करते हैं। इस लोक में निर्धारित अवधि तक रहने के बाद जीवात्मा का पुनर्जन्म होता है। हमारे तीस दिन जितना पितरों का एक दिन-रात होता है (भागवत पुराण, तीसरा स्कन्ध, ग्यारहवां अध्याय, ग्यारहवां श्लोक)। प्राचीन काल में कार्तिक-अमावस पितृ पूजा के लिए विख्यात थी।

प्र. 83 श्रीकृष्ण ने स्वयं को राम क्यों कहा?

उत्तर - दसवें अध्याय के 31वें श्लोक में उन्होंने स्वयं को राम कहा है। इसका मतलब यह कि परब्रह्म रूप भगवान ने ही त्रेता युग में रामावतार लिया था और द्वापर में कृष्णावतार

भी उनका ही है। चौथे अध्याय के सातवें-आठवें श्लोक के अनुसार अनेक युगों में आवश्यकतानुसार भगवान ने अवतार रूप देह धारण की है। त्रेता के राम-लक्ष्मण ही द्वापर में श्रीकृष्ण-बलराम बनकर अवतरित होते हैं।

प्र. 84 क्या श्रीकृष्ण सनातन हैं?

उत्तर - हां, वे सनातन परमात्म चेतना हैं। ब्रह्मरूपी सनातन अव्यक्त चेतना अनादि, अनन्त है; सर्वव्यापी है। यही समय-समय पर संसार में घनीभूत हो जाती है, जिसे अवतार कहा जाता है। इस घनीभूत साकार चेतना के नाम अलग-अलग हो जाते हैं - नृसिंह, वामन, राम, श्रीकृष्ण आदि। ईसा, मोहम्मद व ज़रथुश्त्र भी इसी के नाम हैं। चौथे अध्याय के छठे श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मैं अविनाशी स्वरूप अजन्मा होने तथा सभी भूत प्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके योग माया में प्रकट होता हूँ।' ऐसे ही दसवें अध्याय के 41वें श्लोक में कहते हैं कि 'इस ब्रह्माण्ड में जितनी भी वस्तुएं और जीव कान्तियुक्त, शक्तियुक्त और ऐश्वर्य युक्त हैं, उन्हें मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुए जान।' इससे भी स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण मूलतः सनातन परम चेतना हैं।

प्र.85 क्या हर जन्म में मनुष्य को नए सिरे से आराधना शुरू करनी होती है?

उत्तर - नहीं, यह गलत विचार है। साधना, आराधना, भक्ति आदि एक बार शुरू करने के बाद आगे से आगे बढ़ती जाती है। इस जन्म में जितनी साधना कर ली उसके संस्कार भी अगले जन्म में जीवात्मा के साथ जाते हैं। तो इस जन्म में की गई आराधना अगले जन्म में वहीं से आगे करनी पड़ेगी। इस तरह लगातार चलने वाली यह इबादत किसी न किसी जन्म में अवश्य पूरी होती है। तब मनुष्य को मोक्ष की गति प्राप्त होती है।

दूसरे अध्याय के 40वें श्लोक में कहा गया है कि 'इस कर्मयोग वाली साधना में आरम्भ अर्थात् बीज का नाश नहीं होता। यह लगातार आगे बढ़ती जाती है।' आगे, छठे अध्याय के 43-44वें श्लोक में कहते हैं कि 'ऐसा मनुष्य पहले वाले जन्म में की गई साधना के संस्कारों को इस जन्म में सहज ही प्राप्त कर लेता है। उसके प्रभाव से वह पुनः प्रभु-दर्शन के मार्ग पर और आगे बढ़ता है। इस बार वह भले ही विषय-भोगों में फंस गया हो किन्तु पहले के जन्म में किए गए अभ्यास के कारण इस बार भी वह प्रभु-भक्ति की तरफ आकर्षित अवश्य होगा।'

अतः स्पष्ट है कि हर जन्म में नए सिरे से भक्ति शुरू नहीं करनी होती है। भक्त सूरदास, प्रहलाद, मीरा बाई आदि के जीवन वृतान्त इस सत्य के प्रमाण हैं। इन्होंने जाने कितने पूर्व जन्मों में साधना की थी और अपने-अपने अंतिम जन्म में पूर्णता को प्राप्त हुए थे।

प्र. 86 साधना से भ्रष्ट हो गए मनुष्यों की क्या दुर्गति होती है?

उत्तर - छठे अध्याय के 37वें श्लोक में अर्जुन ने एक प्रश्न किया है कि जो मनुष्य श्रद्धावान तो है और जिसने भक्ति भी की है लेकिन मन की चंचलता के कारण पथ भ्रष्ट हो गया है; ऐसा मनुष्य किस गति को प्राप्त होता है? क्या उसकी दुर्गति होती है? इसका जवाब देते हुए 40वें श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'ऐसे मनुष्य का न तो इस लोक में और न ही परलोक में नाश होता है। भक्ति करने वाले, शुभ कर्म करने वाले और ईश्वर के प्रति समर्पित भाव से कार्य करने वाले की दुर्गति नहीं होती है।' देखो, साधना का मार्ग कठिन तो है ही, इस पर चलते हुए बीच-बीच में विचलन आ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसलिये साधक मनुष्यों का पतन नहीं होता है। 41वें श्लोक में पुनः कहा गया है कि ऐसे योग भ्रष्ट स्त्री-पुरुषों को मोक्ष वाली गति तो नहीं मिलती है। वे स्वर्ग आदि उच्च लोकों में थोड़ा समय व्यतीत करते हैं, तत्पश्चात शुद्ध आचरण वाले भले लोगों के घर में जन्म लेते हैं, वहाँ अपनी शेष साधना पूरी करते हैं। इसी बात को जारी रखते हुए 42वें श्लोक में स्पष्ट करते हैं कि यदि कोई वैराग्यवान मनुष्य पथ भ्रष्ट हो जाता है तो अगली बार वह ज्ञानवान योगियों के ही कुल में जन्म लेता है। हां, यह बात जरूर है कि संसार में ऐसा जन्म अति दुर्लभ है। ये मनुष्य अन्ततः परमगति को प्राप्त होते हैं।

भक्त रैदास पूर्व जन्म में ब्राह्मण थे। उस समय भी वे रामानन्द जी के ही शिष्य थे। कोई गलती हो जाने से गुरु ने शाप दे दिया कि तू चमार हो जा। अगली बार वे चमार के घर में पैदा हुए। पुनः रामानन्द जी के ही शिष्य बने। पूर्व जन्म की संचित भक्ति के आधार पर इस नये जन्म में साधना करते हुए सद्गति को प्राप्त हुए। अतः स्पष्ट है कि शिथिल प्रयत्न वाले या साधना से भ्रष्ट हो जाने वाले स्त्री-पुरुषों की भी दुर्गति नहीं होती है।

प्र.87 निष्कर्मता क्या है?

उत्तर - पूर्णता की अवस्था में जब और अधिक कर्म करना शेष नहीं रहता; उस अवस्था को निष्कर्मता कहते हैं। मनुष्य जीवन में कर्म का अंतिम लक्ष्य है आत्म साक्षात्कार या मोक्ष अथवा परमात्म चेतना से एकाकार हो जाना। साधक जब इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो फिर कर्म करने की अनिवार्यता समाप्त हो जाती है - अब कुछ भी अप्राप्त नहीं रहा जिसके लिए कर्म करें। यही निष्कर्मता है। यह अवस्था देह में रहते हुए प्राप्त की

जाती है। शेष जीवन में ऐसे महात्मा मात्र लोक कल्याण के लिए कर्म करते हैं; स्वयं के लिए कुछ नहीं करते क्योंकि स्वयं तो पूर्ण हो गये।

प्र. 88 तप किसे कहा गया है?

उत्तर - तप के विषय में सत्रहवें अध्याय के श्लोक संख्या चौदह से लेकर उन्नीस तक समझाया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि देवता, ब्राह्मण, माता-पिता, आचार्य, वृद्ध स्त्री-पुरुष व ज्ञानी जनों का पूजन शरीर संबंधी तप है। इसी भांति तन-मन की पवित्रता, व्यवहार की सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि भी शारीरिक तप में शामिल होते हैं। इसी क्रम में वाणी संबंधी तप को भी स्पष्ट किया गया है - ऐसा वचन नहीं बोलें जो सुनने वाले को अप्रिय लगे, अहितकर बात भी नहीं कहें, प्रभु के नाम जपने का अभ्यास करें आदि- आदि। अब सोलहवें श्लोक में मन संबंधी तप के विषय में कहा गया है - मन को शांत रखें, परमात्मा के विषय में चिन्तन-मनन करते रहें, मन की चंचलता को रोकें और उसे विकारों से मुक्त करें। यह भी कहा गया है कि ये तीनों तप सात्विक हैं। जो तप मान-सम्मान प्राप्ति के लिये केवल दिखावे के तौर पर किया जाता है वह राजस यानि रजोगुणी तप है। जो तप जिद करके शरीर आदि को पीड़ा देते हुए तथा दूसरों का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है वह तामसी तप है।

दान के विषय में भी श्लोक संख्या बीस से बाईस तक स्पष्ट किया गया है। बिना किसी स्वार्थ के दूसरों को जो कुछ दिया जाता है उसे दान कहते हैं। दान सदैव ही देश, काल और पात्र के अनुसार दिया जाना चाहिए। इसका मतलब यह है कि जिस स्थान पर, जिस समय, जिस मनुष्य को, जिस वस्तु की जरूरत है, उसे देना सबसे अच्छा या सात्विक दान कहा जाता है। इसके विपरीत अपने मन को दुखाते हुए और प्रत्युपकार की भावना से जो दान दिया जाता है वह रजोगुणी दान होता है। इसका मतलब यह है कि बदले में अपना सांसारिक कार्य सिद्ध करने की आशा से अथवा अन्य कोई फल प्राप्ति के उद्देश्य से दिया जाने वाला दान रजोगुणी होता है। जो दान तिरस्कार पूर्वक अयोग्य व्यक्ति अथवा कुपात्र को दिया जाता है उसे तामसी कहा गया है। कुपात्र का मतलब है - शराब पीने वाला, मांस खाने वाला, चोरी करने वाला व अन्य नीच कर्म करने वाले मनुष्य। इस तरह गीता में तप व दान की विस्तृत व्याख्या की गई है।

प्र. 89 सृष्टि चक्र क्या है?

उत्तर - इसका अर्थ है संसार में मनुष्य का जन्म, पोषण, कर्म, मृत्यु, पुनर्जन्म और अन्ततः मोक्ष। अर्थात् पुनर्जन्म से मुक्ति। मनुष्य को इसलिये सदैव प्रभु के प्रति समर्पित भाव से

अपने कर्तव्य कर्म करने चाहिये। जो अपने मोक्ष के लिये प्रयत्न नहीं करता वह पापी व्यर्थ ही मनुष्य योनि में जन्म लेता है। गीता में इसी बात को तीसरे अध्याय के तीन श्लोकों (14, 15, 16) में समझाया गया है - सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं। अन्न बरसात से पैदा होता है। वर्षा यज्ञ से होती है। यह यज्ञ मनुष्य के कर्मों से होता है। कर्मों का निर्धारण वेद (शास्त्र) करते हैं। यह वेद (सनातन ज्ञान) अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। अतः प्रत्येक मनुष्य का यह धर्म है कि वह इस सृष्टि चक्र के अनुसार ही कर्म करे अर्थात् शास्त्र में जिस वर्ण के लिये जो कर्म बताए गए हैं उन्हीं कर्मों को अवश्य करे।

इस सृष्टि चक्र के विषय में महात्मा आदि शंकराचार्य ने भी वेदानुसार व्यवस्था स्पष्ट की है - यज्ञ से वर्षा, वर्षा से अन्न और वनस्पति, अन्न से शरीर, रक्त, रस, मांस, मज्जा, वीर्य आदि बनते हैं, वीर्य से संतान उत्पन्न होती है, मृत्यु के बाद जीवात्मा अन्तरिक्ष में विचरती रहती है, यही जीवात्मा वर्षा के पानी में मिलकर जमीन पर आती है, फिर वर्षा जल से वनस्पति में जाती है, वनस्पति से मनुष्य में प्रवेश करती है और प्रजनन के जरिए पुनर्जन्म प्राप्त करती है। यह सृष्टि चक्र प्रलय काल तक चलता रहता है। आदि शंकराचार्य भी यही कहते हैं कि मनुष्य जीवन का लक्ष्य अपने मूल उद्गम ब्रह्म के साथ पुनर्मिलन है।

प्र. 90 अध्यात्म, अधिभूत और अधियज्ञ किसे माना गया है?

उत्तर - यह आठवें अध्याय का प्रसंग है। इस अध्याय के पहले श्लोक में अर्जुन ने यही प्रश्न किया है। तत्पश्चात् तीसरे व चौथे श्लोक में भगवान इसका जवाब देते हैं - प्रत्येक जीव में आत्मा रूप से जो परमात्मा विद्यमान रहता है, उसे अध्यात्म कहा गया है। ऐसे ही संसार में उत्पत्ति और विनाश धर्म वाले जितने भी जीव तथा पदार्थ हैं वे सब अधिभूत कहे जाते हैं। भूत का मतलब भी भौतिक होता है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को अधिदेव माना गया है। इनका स्तर ब्रह्म से बहुत नीचे है, इसीलिये अधिदेव कहा गया है। इसके बाद श्रीकृष्ण कहते हैं कि शरीर में विष्णु रूप से मैं ही अधियज्ञ हूँ। अर्थात् यज्ञ में जो आहुतियां दी जाती हैं उन्हें विष्णु रूप से मैं ही ग्रहण करता हूँ। कुल मिलाकर इन श्लोकों में भी यही बात दोहराई गई है कि श्रीकृष्ण ही ब्रह्मा हैं, श्रीकृष्ण ही विष्णु हैं, श्रीकृष्ण ही आत्मा हैं और श्रीकृष्ण ही इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्याप्त हैं।

प्र.91 गीता में धर्म किसे कहते है?

उत्तर - गीता में दो शब्द पचासों बार प्रयुक्त हुए हैं - कर्म और स्वधर्म। इसे स्पष्ट करते हुए बार-बार कहा गया है कि शास्त्रानुसार अपने-अपने कर्म को कर्त्तव्य भाव से करना ही धर्म है। स्वधर्म का मतलब है - स्वयं अपना कर्म। गुण कर्मों के अनुसार मनुष्य को चार

श्रेणियों में विभाजित किया गया है - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। शास्त्र में प्रत्येक वर्ण के गुण निर्धारित किए हुए हैं। इसे स्वभाव और नियत कर्म भी कहा गया है। तो अपने-अपने वर्ण के नियत कर्मों का कर्त्तव्य भाव से निर्वाह करना ही धर्म कहा गया है।

प्र. 92 श्रीकृष्ण की विभूतियों का क्या तात्पर्य है?

उत्तर - अवतार देह में परमात्मा के जिन विशेष लक्षणों की अभिव्यक्ति होती है उन्हें विभूतियाँ कहते हैं। 'वि' यानि विशिष्ट और 'भूति' यानि व्यक्त होने वाली। श्रीकृष्ण सोलह कलाधारी अवतार थे, इसलिये उनकी विभूतियाँ भी अनन्त थी। किन्तु संक्षेप में भगवान ने अर्जुन को अपनी 81-82 विभूतियों का ही परिचय दिया था। इनका वर्णन दसवें अध्याय में है। चालीसवें श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरी दिव्य विभूतियों का अंत नहीं है। मैंने अपनी विभूतियों का विस्तार संक्षेप में कहा है। पुनः 41वें श्लोक में स्पष्ट करते हैं कि ऐश्वर्य युक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त प्रत्येक वस्तु को तू मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुई जान।

जिस तरह टीवी की तरंगों में टीवी के कार्यक्रम अदृश्य विद्युत चुम्बकीय रूप से निहत रहते हैं उसी भांति सृष्टि के सम्पूर्ण वैभव का आधार सूक्ष्मतम रूप से ब्रह्म रूपी सनातन चेतना में निहित रहता है। हमें टीवी की तरंगे भी नहीं दिखती और सनातन चेतना भी नहीं दिखती। टीवी तरंगे टीवी सैट में पर्दे पर प्रत्यक्ष हो जाती हैं, ऐसे ही ब्रह्म की विभूतियाँ दिव्य चक्षु वाले महात्मा के अन्तःकरण में साफ दिखाई देती हैं। धरती पर ऐसे अनेक साधु-संत हुए हैं जिन्होंने परमात्मा की विभूतियों के दर्शन किए हैं।

प्र. 93 हमें स्वधर्म में कौन लगाता है?

उत्तर - इसका मतलब यह है कि कोई मनुष्य जिस वर्ण का है उसी वर्ण वाले कर्म करने के लिये उसे कौन बाध्य करता है? इसका जवाब 18वें अध्याय के 59-60वें श्लोक में दिया गया है - मनुष्य को उसके वर्ण के अनुसार जो स्वभाव मिलता है वह उसे वैसे ही कर्म में लगा देता है। अर्जुन को सम्बोधित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि तेरा यह निश्चय मिथ्या है कि तू युद्ध नहीं करेगा; क्योंकि क्षत्रियपन का स्वभाव तेरे को जबरदस्ती युद्ध में लगा देगा।

जिस कर्म को मनुष्य मोह से विमूढ़ हो जाने के कारण करना नहीं चाहता है उसे भी वह कभी न कभी अवश्य करता है। पूर्व कर्मों के संस्कार से इस जन्म में उसे जो स्वभाव मिला है वह स्वभाव उससे वैसा कर्म अवश्य करा लेगा। इसके प्रमाण में हम आधुनिक

युग का एक वैज्ञानिक प्रयोग प्रस्तुत कर रहे हैं। घटना रूस नामक देश की है। वहाँ एक जवान लड़की रसोई घर में रखे हुए चाकू को देखकर आतंकित हो जाती थी। उसके इलाज में कई वर्ष व्यर्थ ही बीत गए। तब एक मनोचिकित्सक ने उसे सम्मोहित किया। उसे उसके पूर्वजन्म में ले गया। इस तरह अपने पहले वाले तीसरे जन्म में जब वह लड़की मानसिक रूप से पहुंची तो उसकी बातों से पता चला कि एक पुरुष ने चाकू से उसकी हत्या कर दी थी। अपनी हत्या होते देखकर वह बहुत ज्यादा डर गई थी। वही भय और चाकू की स्मृति उसे संस्कार रूप में मिली, जिसके कारण वह चाकू को देखते ही डर जाती थी। इससे सिद्ध होता है कि हमारा स्वभाव हमारे कर्मों का संचालन करता है।

प्र. 94 शम, दम और अपरिग्रह के क्या अर्थ है?

उत्तर - शम का अर्थ है - मन का संयम और दम का अर्थ है इन्द्रियों का दमन। इसी भांति अनावश्यक सांसारिक भोग सामग्री का संग्रह नहीं करने को अपरिग्रह कहते हैं। शम यानि शमन अथवा शांत करना; मन की चंचलता और बुद्धि की अस्थिरता को शांत कर देना। यह अनासक्ति भाव का निरन्तर अभ्यास करने से होता है। छठे अध्याय में दसवें श्लोक के अनुसार आत्मा को सदैव परमेश्वर के ध्यान में लगाए रखने से शम वाला अभ्यास पूर्ण हो जाता है। इसी भांति दसों इन्द्रियों को सांसारिक विषयों से बार-बार हटाते हुए केवल कर्त्तव्य कर्मों तक सीमित रखने का अभ्यास 'दम' कहलाता है। 'दम' का मतलब है - दमन करना या दबाना। बार-बार प्रयासपूर्वक इन्द्रिय गत आसक्ति को दबाना ही दम कहा गया है।

अन्याय पूर्वक और अनावश्यक धन-संपत्ति का संग्रह करने को परिग्रह कहते हैं। ऐसा नहीं करने को अपरिग्रह कहा जाता है।

प्र.95 प्रलय का क्या अर्थ होता है?

उत्तर - चारों तरफ फैला हुआ संसार जब अपरा प्रकृति के जरिए मूल प्रकृति में लय हो जाता है तो उसे प्रलय कहते हैं। यह एक अवस्था है जिसमें सृष्टि के कारण तत्व परस्पर सिमटकर एक हो जाते हैं। गीता में ब्रह्मा की 'रात्रि' को प्रलय और दिन को सृष्टि कहा गया है। आठवें अध्याय के 16, 17वें श्लोक में प्रलय का ऐसा ही उल्लेख है। धरती के चार अरब, बत्तीस करोड़ वर्ष बाद प्रलय होती है। प्रलय की अवधि भी इतनी ही लम्बी होती है। इस तरह आठ अरब 64 करोड़ वर्ष में एक प्रलय घटित होती है।

प्रलय के चार स्तर बताए गए हैं - 1. संसार में किसी एक स्थान पर हुई बर्बादी को खण्ड प्रलय कहते हैं; तीन हजार एक ई. पू. दजला-फरात में बाढ़ से प्राचीन बेबीलोनिया क्षेत्र

में ऐसी ही प्रलय हुई थी। 2. नैमित्तिक प्रलय - किसी महायुद्ध, महा बीमारी या बड़े स्तर की प्राकृतिक उथल-पुथल के कारण हुए विनाश को कहते हैं - महाभारत युद्ध के मात्र 18 दिनों में लगभग 49 लाख योद्धा मर गए थे। इसका प्रभाव लगभग सम्पूर्ण भारत पर पड़ा था। ऐसे ही साढ़े तीन करोड़ वर्ष पहले पृथ्वी से एक तारा टकरा गया था। उस कारण यहाँ आधे से अधिक भू-भाग पर विनाश हुआ था। 3. महाप्रलय जब होती है तब ब्रह्माण्ड में भारी विनाश होता है और सृष्टि सिमट जाती है। 4. आत्यंतिक प्रलय - अंतिम रूप से जब किसी जीव का अन्त हो जाता है तो उसे आत्यंतिक प्रलय कहते हैं। जब किसी संत-महात्मा को मोक्ष की गति मिल जाने से उसके पुनर्जन्म - मृत्यु (सृष्टि-प्रलय) का चक्र समाप्त हो जाता है तो वह उसके लिए अंतिम प्रलय होती है।

प्र. 96 ब्रह्माण्ड संबंधी पौराणिक परिकल्पना क्या है?

उत्तर - भागवत पुराण (तीसरा स्कन्ध, 12वां अध्याय, 41वां श्लोक) के अनुसार आकाश में 'करोड़ों (अनेक)' ब्रह्माण्ड हैं। हमारा ब्रह्माण्ड-कोश पचास करोड़ योजन विस्तार वाला है। एक योजन में 4 कोस या आठ मील होते हैं। इस तरह हमारे ब्रह्माण्ड का विस्तार लगभग आठ अरब मील या 14.40 अरब कि.मी. है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार इसका विस्तार 217 खराब प्रकाश वर्ष जितना है। इसके बाहर चारों तरफ उत्तरोत्तर दस-दस गुना विस्तार वाले सात आवरण हैं। कुल मिलाकर यह ब्रह्माण्ड अस्सी पद्म मील जितने विस्तार वाला है। दूसरा उल्लेख ऐसा मिलता है कि हमारे ब्रह्माण्ड का सृष्टा तो चार मुंह वाला ब्रह्मा है। इसके आगे क्रमशः एक हजार तक मुंह वाले ब्रह्मा के कई ब्रह्माण्ड हैं। जैनियों के मुनि नथमल जी ने भी एक ग्रन्थ में लिखा है कि आकाश में हमारी जैसी एक हजार पृथ्वियां हैं। अब विज्ञान की बात करें। वैज्ञानिकों ने 12 हजार प्रकाश वर्ष दूर वाले तारे को भी देख लिया है। इस दूरी को गणितीय अंकों में नहीं लिखा जा सकता है; यानि इतनी 'अनन्त' दूरी तक ब्रह्माण्ड या ब्रह्माण्डों के अस्तित्व को तो विज्ञान भी मानता है।

प्र.97 अविद्या किसे कहते हैं? यह कितने प्रकार की बताई गई है?

उत्तर - जो हमारे आत्म स्वरूप को छिपा दे उसे अविद्या कहते हैं। यह शब्द विद्या का विलोम है। विद्या यानि आत्मा के सनातन सत्य को जानना। मैं देह नहीं आत्मा हूँ, यह ज्ञान विद्या है। मैं आत्मा नहीं देह हूँ, ऐसा विचार अविद्या है। अविद्या पांच प्रकार की बताई गई है - अज्ञान, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इस संसार को सत्य समझना ही अज्ञान है। सांसारिक वस्तुओं एवं नश्वर प्राणियों (सगे-संबंधियों) के प्रति ममत्व रखना मोह या अस्मिता है। आसक्ति ही राग है। जो हमें प्रिय नहीं है उससे घृणा करने को द्वेष कहते हैं। मृत्यु से डरने को अभिनिवेश कहा गया है। कुल मिलाकर असत्य को सत्य

मानना तथा सत्य से दूर भागना ही अविद्या है। अर्जुन भी अविद्या जनित मोह के वश में हो गया था। तब भगवान ने उसे सत्य का रहस्य समझाया। उस विद्या को प्राप्त करके वह 18वें अध्याय के 73वें श्लोकानुसार कहता है कि 'नष्टोमोह' अर्थात् मेरा मोह नष्ट हो गया है।

प्र.98 पहले अध्याय के पहले ही श्लोक में कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र क्यों कहा है?

उत्तर - प्राचीन काल में कुरुक्षेत्र में धार्मिक यज्ञ, अनुष्ठान आदि अधिक किए जाते थे। यह तपोभूमि थी। राजा कुरु ने यहाँ तपस्या की थी। तब देवराज इन्द्र ने यह वरदान दिया कि 'जो मनुष्य यहाँ तपस्या करते हुए अथवा युद्ध करते हुए देह त्याग करेंगे वे स्वर्गलोक के अधिकारी होंगे।', इसलिए यह धर्मक्षेत्र कहा गया है। कुरुक्षेत्र शब्द का मतलब है कर्मभूमि। यहाँ धर्म के अनुसार तत्कालीन कर्म करने की परम्परा रही है, अतः यह धर्म क्षेत्र है। हस्तिनापुर के चारों तरफ का विशाल मैदान ही कुरुक्षेत्र था। वर्तमान दिल्ली में जहां चिड़ियाघर है वह हस्तिनापुर के किले का कोई हिस्सा रहा है, ऐसी मान्यता है।

प्र. 99 विश्वरूप का क्या अर्थ है?

उत्तर - विश्वरूपी परमात्मा - यदि आप 'हबल स्पेस टेलिस्कोप' से आकाश को देखें तो विराट ब्रह्माण्ड नजर आएगा। ऐसे ही जब योग शक्ति से दिव्य-दृष्टि सक्रिय हो जाती है तो भीतर ही यह नजारा दिखने लगता है। जो कुछ बाहर है उसका अतिशय सूक्ष्म रूप भीतर भी है। तो योगी को चौदह लोक दिखते हैं। अर्जुन को अव्यक्त चेतन शक्ति रूप परमात्मा में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड गतिशील दिखा था। यही विश्वरूप था।

साधना के पथ पर साधक का सूक्ष्म शरीर जब स्थूल देह से अलग दिखाई देता है तब वह आकाश के असंख्य तारों में विचरण करता हुआ भी नजर आता है। यह तो मामूली साधकों की क्षमता है। तो जो योगारूढ़ अवस्था में स्थित हैं, उनको प्रभु का विश्वरूप यानि ब्रह्माण्ड दिख जाना कोई अविश्वसनीय बात नहीं है।

प्र. 100 'परमधाम' किसे कहा गया है?

उत्तर - परमधाम के विषय में दो दृष्टियों से विचार किया गया है - सगुण व निर्गुण। सगुण भक्त ऐसा मानते हैं कि परब्रह्म ही श्रीकृष्ण के रूप में दिव्य गोलोक में विराजमान है। यह गोलोक, दिव्य बैकुण्ठ लोक में है। ...अन्तरिक्ष में असंख्य दिव्य लोक हैं। वहाँ दिव्य जीवात्माएं या नित्य मुक्त जीव प्रकाश रूप से निवास करती हैं। इनमें भी बैकुण्ठ सर्वोच्च लोक है। इसका वर्णन भागवतपुराण में दूसरे स्कन्ध के नौवें अध्याय में श्लोक 10 से 19

तक किया गया है। स्थूल ब्रह्माण्ड के 14 लोक तो नश्वर हैं। इनसे परे अनेक दिव्य ब्रह्माण्ड हैं। उनमें ही सर्वोच्च बैकुण्ठधाम है।

निर्गुण साधक यह मानते हैं कि परब्रह्म दिव्य ज्योति स्वरूप है। उसका कोई आकार नहीं है। यह परमगति है। इससे आगे कुछ नहीं। मोक्ष को प्राप्त जीवात्मा इसी परम ज्योति में लीन हो जाती है। यह निर्गुण ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है। यहाँ 'ओंकार' की दिव्य ध्वनि गूंजती है। उधर बैकुण्ठधाम में दिव्य वंशीधुन गूंजती है। परमगति, परमधाम व परब्रह्म परस्पर पर्यायवाची हैं। वेदांतियों के अनुसार यह परमधाम हमारे शरीर के सहस्त्रार चक्र में है जहां अमृत रहता है। सूफियों ने इसे खुदा की दरगाह कहा है।

प्र. 101 योगी देह त्याग कैसे करते हैं?

उत्तर - गीता में योग और योगियों का ही सर्वाधिक वर्णन है। यहाँ योगी का मतलब है ऐसा महात्मा जो योग को सिद्ध कर चुका है। भौतिक देह तो इनको भी त्यागनी होती है। इसकी दो विधियां हैं - 1. वे योगी जो पूर्णतः मुक्त हो जाना चाहते हैं। ऐसे योगी अपने प्राण सहस्त्रार चक्र में स्थिर करते हैं, फिर ब्रह्मरन्ध्र के जरिए शरीर से निकलकर विश्वव्यापी परम चेतना से एकाकार हो जाते हैं। 2. वे योगी-महात्मा जो सिद्धों की भांति त्रिलोक में विचरण करते रहना चाहते हैं। ऐसे योगी सूक्ष्म व कारण शरीर सहित देह से बाहर निकल जाते हैं। इसका मतलब यह कि वे सूक्ष्म प्राण का उत्सर्ग नहीं करते हैं। इनका शरीर वायु रूप होता है और ये स्वेच्छा से कहीं भी विचरण करते रहते हैं। योगी भर्तृहरि, महर्षि रमण आदि ऐसे ही महात्मा हैं। परमहंस श्यामाचरण लाहिड़ी के गुरु महावतार बाबाजी (बाबा साहब) भी ऐसे ही योगी हैं। ये कोई सा भी शरीर धारण करके अपने भक्तों के सामने आ जाते हैं। इनका लक्ष्य लोक कल्याण होता है। आगे चलकर जब कभी इनकी इच्छा होती है तो ये सूक्ष्म प्राण त्याग कर ब्रह्मलीन हो जाते हैं। भागवत पुराण के दूसरे स्कन्ध के दूसरे अध्याय के श्लोक संख्या उन्नीस से तीस तक इस विषय का प्रतिपादन किया गया है।

संकल्प, संसार और मोक्ष

प्र. 102 संकल्प का क्या अर्थ है?

उत्तर - छठे अध्याय के चौथे श्लोक में उल्लेख आता है कि 'जिस काल में मनुष्य न तो इन्द्रियों के भोगों में आसक्त होता है तथा न ही कर्मों में आसक्त होता है; उस काल में सर्व संकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।' ...तो संकल्प का अर्थ जानना जरूरी है। मोटे तौर पर इसका अर्थ है विचार। इसका संबंध बुद्धि से होता है। जिस तरह मन में कामनाओं का भण्डार होता है उसी भांति बुद्धि में विचारों का निरन्तर प्रवाह रहता है। जब हम संकल्पों के त्याग की बात करते हैं तो इसका मतलब है विचार शून्य हो जाना; आगे होकर कोई विचार नहीं करना कि मैं ऐसा कर लूँ या वैसा कर लूँ। इसकी जरूरत इसलिए है कि विचारों को त्यागे बिना बुद्धि स्थिर नहीं होती है। विचार ठहर जाएं तो बुद्धि भी स्थिर हो जाती है। पूर्व संस्कारों के अनुसार हमारे भीतर अनेक विचार प्रवाहमान रहते हैं। इनके कारण बुद्धि भी डांवाडोल रहती है। ये विचार हमें बंधनकारी कर्मों में प्रवृत्त करते रहते हैं। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण बार-बार कहते हैं कि कामनाएं और संकल्प त्याग दो। साधना की अन्तिम अवस्था में तो मोक्ष का संकल्प भी त्यागना पड़ता है। तब विचार शून्यता की अवस्था आती है और मनुष्य को मोक्ष की गति प्राप्त होती है।

प्र. 103 ब्रह्मचारी का क्या तात्पर्य है?

उत्तर - छठे अध्याय के 14वें श्लोक में ऐसा कथन है कि मोक्षगामी साधक ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थित रहे....तो ब्रह्मचर्य के व्रत वाले साधक को ब्रह्मचारी कहते हैं। इसका मतलब है ब्रह्म की अवस्था में विचरण करने वाला। इसका दूसरा अर्थ है ऐसा आचार-व्यवहार जो हमें ब्रह्म की अवस्था में विचरण करने की योग्यता उपलब्ध करा दे। ऐसी योग्यता वाले मनुष्य को ब्रह्मचारी कहते हैं। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग, अनासक्ति और बुद्धि की स्थिरता शामिल है।

ब्रह्मचर्य का एक अन्य अर्थ है - वीर्य धारण करना। मोक्षगामी मनुष्यों के लिये जरूरी है कि वे विवाह से पहले स्त्री-संग नहीं करें; विवाह के बाद भी केवल संतानोत्पत्ति के उद्देश्य से ही सहवास करें। ...वीर्य धारण करने से मनुष्य के भीतर सात्विक ऊर्जा बढ़ती है। इसके प्रभाव से मन और बुद्धि स्वतः ही स्थिर होने लगते हैं।

महात्मा अड़गड़ानन्द जी नें यथार्थ गीता के पृष्ठ 148 पर ब्रह्मचारी की अच्छी व्याख्या की है - इसका अर्थ है ब्रह्म का आचरण अर्थात् अपने नियत कर्म करते रहना। ऐसा करते

समय बाहर के स्पर्श, मन और सभी इन्द्रियों के स्पर्श बाहर ही त्याग कर चित्त को ब्रह्म चिन्तन में, श्वास-प्रश्वास, ध्यान में लगाना है। जब मन ब्रह्म में लगा हुआ है तो बाह्य विषयों का स्मरण कौन करे? यदि बाह्य स्मरण होता है, तो अभी मन लगा कहाँ? विकार शरीर में नहीं, मन की तरंगों में रहते हैं। यदि मन ब्रह्माचरण में लगा हुआ है तो जननेन्द्रिय संयम ही नहीं; सकल इन्द्रियाँ संयमित हो जाती हैं। ऐसा मनुष्य ही ब्रह्मचारी है।

प्र. 104 मोक्ष क्या है?

उत्तर - मैं के मोह का भी जब क्षय हो जाए तो उस अवस्था को मोक्ष कहते हैं। 'मैं नहीं हूँ' - यही मोक्ष है। 'मैं' से मुक्ति यानि अहंकार व आसक्ति से मुक्ति; संबंधों से मुक्ति; मौत के भय से मुक्ति। जब यह 'मैं' नहीं रहा तो संसार भी नहीं; प्रकृति के त्रिगुण भी नहीं; विषय-भोग की नहीं; अन्त:करण भी नहीं; अर्थात् कोई सा भी बंधन नहीं; यही मुक्ति है। ...जब बंधन नहीं तो जन्म नहीं; जन्म नहीं तो मृत्यु भी नहीं। अर्थात् परमतत्व से एकाकार; परमगति; ब्रह्म की अवस्था में विचरण। यही मोक्ष है।

तो मोक्ष एक अवस्था है - देह में रहते हुए भी मुक्त जीव की तरह व्यवहार और देहान्त के बाद पुनर्जन्म से मुक्ति। इस देह में होते हुए भी मुक्ति की स्थिति का अर्थ है सदेह ब्रह्म हो जाना; जैसे श्रीकृष्ण। जब जीवात्मा अंतिम कर्म-संस्कार से भी छूट जाती है, वह पुन: 'परम' हो जाती है - परम ज्ञान, परम ऐश्वर्य, परम वैराग्य; सब कुछ एक साथ। यही मोक्ष की अवस्था है। नवें अध्याय के 28वें तथा 29वें श्लोक के अनुसार मुक्त जीव श्रीकृष्ण के परब्रह्म रूप में एकाकार हो जाता है। प्रभु का कथन है कि 'यद्यपि मेरा न कोई अप्रिय है, न प्रिय है; फिर भी मेरा भक्त मेरे में है और मैं उसमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

प्र. 105 कौन-कौन सी योनियों में जीवन प्रवाहमान बताया गया है?

उत्तर - गीता में चार योनियों का उल्लेख है - देवयोनि, मनुष्य योनि, पशु योनि और वनस्पति योनि। पशु वाली को अधोयोनि कहा गया है और वनस्पति वाली को निर्यक योनि कहा है। पुराणों में अनेक वर्णन मिलते हैं कि श्रेष्ठ कर्मों के सहारे मनुष्य को स्वर्ग में रहने का अवसर मिलता है और वह देवराज इन्द्र तक बन सकता है। अयोध्या के सूर्यवंशी राजा मुचुकुन्द को स्वर्ग लोक में एक वर्ष तक रहने का अवसर मिला था। ऐसे ही राजा नहुष इन्द्र के पद पर विराजमान हुए थे। ये ही देवयोनि है। इसी तरह तामसिक कर्म करने वालों को अधोयोनि व निर्यक योनियों में जन्म लेना पड़ता है। इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

प्र. 106 स्वाभाविक कर्म का क्या अर्थ है?

उत्तर - कर्म करने की जैसी जन्मजात प्रवृत्ति मिलती है उसे स्वभाव कहते हैं। इस स्वभाव के अनुसार होने वाले कार्यों को स्वाभाविक कर्म कहा गया है। प्रत्येक मनुष्य को उसके संस्कारों के अनुकूल स्वभाव मिलता है। जिन्हें तामसिक स्वभाव मिला है उन्हें बहुत परिश्रम करते हुए ऐसे स्वभाव वाले कर्मों से बचना होता है। विवेक और दृढ़ इच्छा शक्ति के सहारे ही मनुष्य प्रतिकूल स्वाभाविक कर्मों वाली प्रवृत्ति को दबा सकता है। इसीलिये कहा गया है कि कुरुक्षेत्र हमारे भीतर ही है, जहां अच्छी और बुरी प्रवृत्ति का युद्ध जीवन भर चलता रहता है।

गीता और भागवत पुराण में अनेक बार कहा गया है कि मनुष्य को अपनी गति सुधारने के लिए ही बार-बार जन्म मिलता है। इसका यही अर्थ है कि यदि जन्मजात स्वभाव बुरा मिला है तो उससे युद्ध करते हुए अच्छे कर्म करें। इसके लिये शास्त्रों का अध्ययन करें और किसी संत-महात्मा की शरण में जाएं। अजामिल का उदाहरण बहुत विख्यात है कि किस तरह नारायण नाम के एक महात्मा उसके भ्रष्ट जीवन को सुधार देते हैं। अंगुलीमाल के साथ गौतम बुद्ध ने भी ऐसा ही किया था।

प्र. 107 ब्रह्मभूत किसे कहा गया है?

उत्तर - भूत का अर्थ है - मनुष्य। इस आधार पर ब्रह्म भाव में स्थित मनुष्य को ही ब्रह्मभूत कहा गया है। ऐसा मनुष्य दो तरह की धारणाएँ पक्की कर लेता है - 1. मैं देह नहीं हूँ। 2. मैं ही ब्रह्म हूँ। इस तरह आत्म भाव से ब्रह्म में जो मनुष्य स्थिर हो गया है वही ब्रह्मभूत है। पांचवें अध्याय के 24वें श्लोक में वासुदेव श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'जो पुरुष निश्चय करके आत्मा में ही सुख वाला है और आत्मा में ही ज्ञान वाला है तथा जिसने परमात्मा के साथ एकीभाव कर लिया है अवश्य ही ब्रह्म को प्राप्त होता है।'

प्र. 108 क्या गृहस्थ भी योगी हो सकता है?

उत्तर - छठे अध्याय के 42वें श्लोक में एक बात कही गई है कि ज्ञानवान योगियों के कुल में जन्म लेना निःसन्देह अति दुर्लभ है। इसका अर्थ यही है कि गृहस्थ मनुष्य भी योगी हो सकता है। ब्रह्म ऋषि वशिष्ठ से लेकर रामकृष्ण परमहंस तक अनेक ऐसे संत-महात्मा हुए हैं जो गृहस्थ भी थे। गीता में निहित परम ज्ञान का उपदेश करने वाले वासुदेव श्रीकृष्ण स्वयं भी गृहस्थ थे। इसलिये स्पष्ट है कि **गृहस्थाश्रम, योग साधना में बाधक नहीं है।** हमारे अधिकतर ऋषि और महर्षि भी गृहस्थ ही थे। उनके अनेक स्त्रियाँ थी, संतानें थी; फिर भी वे ऋषि थे यानि सत्य के दृष्टा अर्थात् ब्रह्म को जानते थे। योगीराज राजा जनक

भी गृहस्थ थे। राजा होते हुए भी ऋषि की तरह जीवन व्यतीत करते थे तथा महात्मा अष्टावक्र ने उनको ब्रह्म ज्ञान कराया था। इस संदर्भ में ध्यान यह रखना होता है कि गृहस्थी के दायित्वों का निर्वाह भी अनासक्त भाव से करें; देह भोग को भी आत्मा (स्वयं) से पृथक करके देखें और संतान, पत्नी आदि के प्रति केवल कर्त्तव्य भाव रखें। इसका अभ्यास करने से गृहस्थ भी योगी हो सकता है।

प्र. 109 मनुष्य किस दृष्टि से परवश है?

उत्तर - 18वें अध्याय के 60वें श्लोक के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने पूर्व जन्मों में किए हुए स्वाभाविक कर्मों से बंधा हुआ परवश होता है। उन कर्मों से वैसे ही संस्कार बनते हैं। उन्हीं के अनुकूल पुनर्जन्म मिलता है। इस नए जन्म में संचित संस्कारों के आधार पर हमारा स्वभाव बनता है। यही स्वभाव हमें वैसे ही कर्म करने के लिये बाध्य करता रहता है। इसी अध्याय के 59वें श्लोक में मोहग्रस्त अर्जुन को चेतावनी दी गई है कि 'यदि तू ऐसा मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि क्षत्रियपन का जन्मजात स्वभाव तेरे को जबरदस्ती युद्ध में लगा देगा।' पुनः 61वें श्लोक में भगवान कहते हैं कि परमेश्वर सब भूत प्राणियों के हृदय में स्थित है। वह स्वाभाविक कर्मों के अनुसार उन सब प्राणियों को भटकाता रहता है। इसका भी यही अर्थ है कि हम सब अपने-अपने स्वभाव के गुलाम हैं।

प्र. 110 कौनसा धर्म श्रेष्ठ है?

उत्तर - 18वें अध्याय के 47वें श्लोक के अनुसार स्वधर्म ही श्रेष्ठ है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए 46वें श्लोक में कहा गया है कि सर्वव्यापी परमेश्वर को अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि हम वर्णानुसार अपने-अपने कर्मों का कर्त्तव्य भाव से निर्वाह करते हैं तो यही प्रभु की सर्वश्रेष्ठ पूजा है। ऐसा मनुष्य कभी भी पाप को प्राप्त नहीं होता है यानि स्वधर्म का निर्वाह करने से पाप नहीं लगता है। इसलिये स्वधर्म ही श्रेष्ठ है।

प्र. 111 संसार क्या है?

उत्तर - 8वें अध्याय के 40वें श्लोक के अनुसार यह संसार त्रिगुण वाली माया का विकार है अर्थात् माया रूपी प्रकृति का ही विस्तार है। यह सम्पूर्ण प्रकृति ईश्वर के अधीन है और जीवात्मा के लिये भ्रामक है। यह संसार सदैव सरकता रहता है यानि इसमें कुछ भी स्थिर नहीं है; सब कुछ परिवर्तनशील और नाशवान है। इसीलिये सांसारिक माया से मोहित

जीवात्मा हजारों-लाखों जन्मों तक और हजारों-लाखों योनियों में भटकती रहती है। इसी आधार पर संसार को माया का त्रिगुणात्मक विकार कहा गया है।

प्र. 112 तामसी बुद्धि किसे कहा गया है?

उत्तर - 18वें अध्याय में तीन प्रकार की बुद्धि बताई गई है - सात्विक, राजसिक और तामसिक बुद्धि। सात्विक बुद्धि तो आत्म ज्ञान में लगाती है, राजसिक बुद्धि सांसारिक भोगों में लगाती है और तामसिक बुद्धि अज्ञान की तरफ धकेलती है। जिस विचार के कारण मनुष्य अधर्म को भी धर्म समझे, पाप को भी पुण्यकारी समझे, ऐसे विचार वाली बुद्धि को तामसिक कहा गया है। यह तामसिक बुद्धि हमें अकर्तव्य वाले कर्मों के लिये प्रेरित करती है। ऐसी बुद्धि भोगवादी और अभिमानी होती है।

प्र. 113 सकामी मनुष्यों की बुद्धि कैसी होती है?

उत्तर - सकामी मनुष्यों की बुद्धि भेदात्मक होती है और निष्कामी की अभेद वाली एकात्मक। सकामी यानि कामनाओं की पूर्ति के लिए भटकने वाला। वह जाने कितने देवी-देवताओं की पूजा करता है; तीर्थ यात्रा करता है; धार्मिक प्रपंच रचता है। इसी तरह वह समाज में भी मनुष्यों को अनेक वर्गों में बांट कर देखता है। उसके लिए सब तरफ धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, प्रांतीय, राष्ट्रीय, भाषागत आदि आधार पर भेद ही भेद हैं, अनेकता है। जबकि निष्कामी मनुष्य सब भूत प्राणियों में एक ही आत्म चेतना को देखता है। उसकी नजर में किसी भी आधार पर भेदभाव नहीं रहता है।

दूसरे अध्याय के चार श्लोकों (41 से 44) में इसे स्पष्ट किया गया है - अज्ञानी या सकामी मनुष्यों की बुद्धि बहुत भेदों वाली होती है। ये सकामी मनुष्य केवल फल प्राप्ति में प्रेम रखते हैं और स्वर्ग के सुखों को ही श्रेष्ठ मानते हैं।

ऐसे अविवेकी स्त्री-पुरुष अनेकों तरह की क्रियाएं करते हैं, और दूसरों को भी बताते हैं। ऐसी भेद बुद्धि वाली बातें ये लोग आकर्षक वाणी में करते हैं। इनकी बातों से प्रभावित होकर अन्य अनेक लोग भी भटक जाते हैं और बार-बार जन्म लेते हुए अनेक योनियों में भटकते रहते हैं।

प्र.114 समत्व भाव को योग क्यों कहा है?

उत्तर - दूसरे अध्याय के 48वें श्लोक में श्री वासुदेव कहते हैं कि हे धनंजय! आसक्ति को त्याग कर तथा सफलता-विफलता में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ कर्म

कर। यह समत्व भाव ही योग नाम से कहा जाता है। अब प्रश्न है कि भगवान ने ऐसा क्यों कहा? ऐसा इसलिए कहा कि 1. विषम तो प्रकृति है और सम ब्रह्म है। 2. सम यानि जो अनादि काल से अनन्त काल तक एक जैसा ही रहता है और वही ब्रह्म है; अर्थात् जो सम है वही परमात्मा है। 3. आत्मा और परमात्मा की एकता ही योग है यानि योग भी परमात्मा है। 4. तो सम भी ईश्वर और योग भी ईश्वर। इसलिये समत्व भाव को योग कहा है।

समत्व भाव यानि प्रत्येक परिस्थिति में मन और बुद्धि का स्थिर रहना। यह क्षमता योग साधना के परिणामस्वरूप प्राप्त होती है। इसलिये भी समत्व भाव को योग कहा है।

प्र. 115 सुख क्या है?

उत्तर - दूसरे अध्याय के 66वें श्लोक में भीतर की शांति को ही सुख कहा गया है। यह शांति परमात्मा के प्रति आस्तिक भाव से मिलती है। यह आस्तिक भाव योग अथवा समत्व भाव से अर्जित होता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि योग से जो परम शांति मिलती है वही सुख है। ईश्वर को हम सच्चिदानन्द कहते हैं। इसमें आनन्द का अर्थ परम शांति है। अतः सुख का तात्पर्य भी यही परम शांति वाला आनन्द है।

तो जब तक जन्म-मृत्यु का सिलसिला है तब तक सुख नहीं है। जब तक त्रिगुणात्मक प्रकृति का बन्धन है तब तक सुख नहीं है। जब तक मोह और ममत्व है तब तक सुख नहीं है। जब तक 'मैं' का अस्तित्व है तब तक सुख नहीं है। यहाँ हम पहले लिखी हुई बात को दोहरा रहे हैं कि 'मैं' वाले मोह का क्षय होना ही सुख है। यही बात दूसरे अध्याय के 71-72वें श्लोक में भी कही गई है - जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर, ममता रहित और अहंकार रहित होकर कर्म करता है वही शांति को प्राप्त होता है। भीतर की यह शांति ही ब्रह्म को प्राप्त हो चुके पुरुष की स्थिति है। इसके बाद फिर कभी वह मोहित नहीं होता है और इसीलिये यह परम शांति वाली अवस्था ही परम सुख है।

प्र.116 मनुष्य के सबसे बड़े शत्रु कौन और क्यों हैं?

उत्तर - तीसरे अध्याय के 34वें श्लोक में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है - राग और द्वेष प्रत्येक मनुष्य के सबसे बड़े शत्रु हैं। क्यों? क्योंकि ये दोनों ही कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले हैं। कल्याण मार्ग का अर्थ है मोक्ष मार्ग। जिस विधि से हम पुनर्जन्म से छुटकारा पा लें वही हमारे लिए कल्याण मार्ग है यानि कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग। उधर राग और द्वेष भोगवादी हैं। ये मन, बुद्धि और इन्द्रियों को भटकाते रहते हैं। जब तक ये तीनों

अस्थिर हैं तब तक निष्काम कर्म, ज्ञान और भक्ति में से कोई भी सिद्ध नहीं हो सकता है। इन दोनों में पांचों विकार निहित हैं - राग में कामनाएं, मोह, लोभ और मद निहित है। द्वेष में क्रोध समाहित है। गीता में काम, क्रोध और लोभ को नरक के द्वार कहा गया है। इसलिए राग और द्वेष पतनकारी होने के कारण भी मनुष्य के सबसे बड़े शत्रु हैं।

प्र. 117 द्रव्य यज्ञ की सीमा क्या है?

उत्तर - चौथे अध्याय में यज्ञ संबंधी विषय को विस्तारपूर्वक समझाया गया है, जैसे - तप यज्ञ, ज्ञान यज्ञ, द्रव्य यज्ञ, कर्म यज्ञ और कर्मकांड संबंधी अनेक यज्ञ। द्रव्य का मतलब है धन खर्च करके वस्तुएं खरीदना और उससे कर्मकांड वाला यज्ञ सम्पन्न करना। ऐसे यज्ञ में दान-दक्षिणा भी धन अथवा वस्तुओं के रूप में दी जाती है। ये यज्ञ कामना पूर्ति के लिये किये जाते हैं, जैसे - सन्तान की प्राप्ति, व्यापार में वृद्धि, धन की प्राप्ति आदि-आदि। द्रव्य यज्ञ से कामनाओं की पूर्ति होती भी है। इसकी अन्तिम सीमा स्वर्ग के सुख प्राप्त कराना है यानि द्रव्य यज्ञ से मनुष्य स्वर्ग लोक तक पहुंच सकता है। हम पढ़ते-सुनते रहते हैं कि प्राचीन काल में स्वर्ग का राज्य प्राप्त करने के लिये सौ अश्वमेध यज्ञ करने का प्रावधान था। राजा बलि के अन्तिम यज्ञ को विफल करने के लिये ही धरती पर वामन अवतार हुआ था। तो बात इतनी सी है कि द्रव्य यज्ञों की अन्तिम सीमा स्वर्ग लोक तक है।

प्र.118 आसक्ति हमारा पतन कैसे करती है?

उत्तर - आसक्ति मनुष्य को आत्मोन्नति के मार्ग से हटाकर उसका पतन करती है। सगे-सम्बन्धियों में और सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्त मनुष्य ज्ञान योग, कर्म योग और भक्ति योग के विषय में तो सोचता ही नहीं है। वह न मोक्ष के विषय में सोचता है और न ही बार-बार मृत्यु की पीड़ा से बचने के लिये विचार करता है। दुर्योधन को राजसत्ता की आसक्ति थी। इसके लिए उसने पचास लाख योद्धाओं को मरवा दिया और खुद भी मर गया। आसक्ति इतनी घातक होती है। पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) की संयोगिता के प्रति आसक्ति ने चौहान साम्राज्य का पतन कर दिया।

इसीलिये दूसरे अध्याय के 62 व 65वें श्लोक से श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'यह आसक्ति सर्वनाशकारी है, इससे बचो।' यह मनुष्य का क्रमशः पतन करती है। इसे समझाते हुए लिखा गया है कि जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ वश में नहीं होती हैं उसका मन भोग विषयों का चिन्तन करता रहता है। इससे उन विषयों के प्रति आसक्ति पैदा होती है। फिर उन्हें भोगने की कामना पैदा होती है। कामना पूर्ति में बाधा पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से अविवेक बढ़ता है, अविवेक से स्मृति भ्रमित हो जाती है, स्मृति भ्रमित हो जाने से बुद्धि व ज्ञान शक्ति नष्ट हो जाती है और जिसकी ज्ञान शक्ति नष्ट हो जाती है वह मनुष्य जीवन

के परम लक्ष्य से भटक जाता है। ऐसा मनुष्य भीतर ही भीतर सदैव बेचैन रहता है। इस तरह आसक्ति से पतन को स्पष्ट रूप से समझाया गया है।

प्र.119 तो आसक्ति का त्याग कैसे करें?

उत्तर - इसका जवाब पांचवें अध्याय के ग्यारहवें और 27वें श्लोक में दिया गया है। कहा गया है कि बाहरी विषयों का मन से चिन्तन मत करो। इसी भांति सभी सुखों को नश्वर जानते हुए उनके प्रति मोह से बचो। शरीर की इन्द्रियों को ही नहीं बल्कि अन्त:करण को भी आसक्ति से बचाओ। मतलब यह है कि स्वाद से बचो। देह को ऊर्जावान बनाए रखने के लिये जरूरी पदार्थों का सेवन अवश्य करो। इसी तरह संसार की प्रत्येक वस्तु का भोग करते समय आवश्यकता और स्वाद में अन्तर सदैव समझे हुए रहो। इस समझ के अनुसार निरन्तर अभ्यास करने से ही आसक्ति का त्याग सम्भव है।

प्र. 120 मुनि किसे कहा गया है?

उत्तर - पांचवें अध्याय के 28वें श्लोक में कहा गया है कि जो मनुष्य हर समय परमात्मा की महिमा और गुणों का मनन करता रहता है उसे मुनि कहते हैं। ऐसा महात्मा अपनी इन्द्रियों सहित अन्त:करण को भी वश में रखता है। वह इच्छा रहित होता है, अभय होता है और सदैव मोक्ष परायण यानि मुक्त जीव जैसा आचरण करता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मोक्ष परायण मुनि तो सदा मुक्त ही है।

प्र. 121 सच्चिदानन्द का क्या अर्थ है?

उत्तर - गीता में श्रीकृष्ण ने ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वरूप बताया है। इसमें तीन शब्द शामिल हैं - सत्, चित्त और आनन्द। सत् यानि परमात्मा सनातन है, शाश्वत है। चित्त अर्थात् वह ज्ञान स्वरूप है, वह ज्ञान की परम चेतना है। आनन्द अर्थात् परम शांति; ब्रह्म की अनुभूति में परम शांति है।

प्र. 122 क्या भूखे रहने से ही योग सिद्ध होता है?

उत्तर - इसका जवाब छठे अध्याय के 16वें तथा 17वें श्लोक में दिया गया है। कहा गया है कि योग सिद्धि के लिये अनावश्यक भूखे रहना, रात भर जागना आदि जरूरी नहीं है। 16वां श्लोक कहता है कि यह योग न तो बहुत खाने वाले का सिद्ध होता है तथा न ही निराहार रहने वाले का; यह रात भर जागने से भी सिद्ध नहीं होता है। इससे आगे 17वां श्लोक स्पष्ट करता है कि यह योग तो दु:खों का नाश करने वाला होता है। इसके लिये यथा योग्य आहार और निद्रा पर्याप्त है। कर्मों में यथा योग्य चेष्टा करने वाले का तथा यथा

योग्य जागने वाले का ही योग सिद्ध होता है। इस तरह गीता समझाती है कि योग सिद्धि के लिये जबरन भूखे-प्यासे रहना तथा रात-रात भर जागते रहना व्यर्थ है। वस्तुत: यह संयम और निष्काम भाव वाली साधना है। यदि आप शरीर को कष्ट देकर भी आसक्त हैं, मोह ग्रस्त हैं, अशांत हैं तो आपकी साधना सफल नहीं होगी। राजा जनक राजमहल में रह कर भी योगी थे, उधर श्रीकृष्ण आठ रानियों के पति होकर भी ब्रह्मचारी थे। मतलब यह कि योग शरीर से परे एक अन्तर्यात्रा है, मन की साधना है।

प्र. 123 सूक्ष्म बुद्धि किसे कहा गया है?

उत्तर - यह शब्द छठे अध्याय के 21वें श्लोक में आया है। यहाँ कहा गया है कि ब्रह्मानन्द इन्द्रियों से अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य होता है। तो सूक्ष्म बुद्धि के दो लक्षण बताए गए हैं - 1. वह इन्द्रियों की चंचलता से मुक्त हो। 2. शुद्ध हो। इसका मतलब है सात्विक बुद्धि; सात्विक बुद्धि ही सूक्ष्म होती है। साधना का अभ्यास करते-करते जब तमोगुणी और रजोगुणी बुद्धि शांत हो जाती है तो वह इन्द्रियों के प्रभाव क्षेत्र से ऊपर उठ जाती है। ज्ञान स्वरूप सतोगुण में स्थिर हो जाने के कारण वह शुद्ध हो जाती है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि विकार बुद्धि को अशुद्ध करते हैं। इन विकारों से मुक्त होकर वह शुद्ध हो जाती है। सूक्ष्म बुद्धि का यहाँ यही अर्थ है। इससे भी आगे प्रज्ञा की अवस्था होती है। जिसके लिए कहा गया है कि बुद्धि विरल हो जाती है अर्थात् सात्विक भाव भी समाप्त हो जाता है। क्यों? क्योंकि सात्विक गुण भी है तो जड़ प्रकृति का ही विकार और जब तक प्रकृति है तब तक आत्मज्ञान सम्भव नहीं। अतः प्रकृति से परे निकल गई बुद्धि को प्रज्ञा कहा गया है अर्थात् चित्त, प्रकाश, प्रकाश रूप चेतना।

प्र. 124 गीता के अनुसार सर्वात्मवाद क्या है?

उत्तर - यह सन्दर्भ छठे अध्याय के 29वें श्लोक में हैं। आत्मा का व्यापक रूप ही परमात्मा है। यह परमात्मा सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। संत-महात्मा की आत्मा भी विश्वव्यापी हो जाती है। अतः वे प्रत्येक प्राणी में परमात्मा को देखते हैं और परम चेतना में सम्पूर्ण सृष्टि के दर्शन करते हैं। अर्जुन ने जो विश्व रूप देखा वह तो था परमात्मा में सम्पूर्ण जगत को देखना, दूसरी तरफ रामकृष्ण परमहंस ने एक बार सामने आ गई भिखारिन को देखकर कहा था कि माता, आज इस रूप में कैसे? ...यह है प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर को देखने का उदाहरण। इस उनतीसवें श्लोक में कहा गया है कि योगी महात्मा आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित देखते हैं और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में (कल्पित) देखते हैं। जिस तरह हम स्वप्न में देखे हुए दृश्य को जागने के बाद अपनी संकल्प शक्ति से पुन: देख लेते हैं अथवा याद करके बता देते हैं; इसी तरह योगी अपनी संकल्प शक्ति से सम्पूर्ण भूतों को

अपनी ही सर्वव्यापी आत्मा में देख लेते हैं। इसीलिये उनमें मैं-तू, अच्छा-बुरा, मित्र-शत्रु आदि का भेद समाप्त हो जाता है। जब हर कहीं परमात्मा को ही देख रहे हैं तो फिर किसी भी तरह का भेदभाव रहेगा ही नहीं। जब भेदभाव नहीं तो भटकाव नहीं; भटकाव नहीं तो अस्थिरता नहीं, अस्थिरता न होना ही स्थित प्रज्ञता है। स्थित प्रज्ञता ही ब्रह्म की अवस्था में विचरने वाली स्थिति है और इसी अवस्था में यह सर्वात्मवाद सिद्ध होता है। इस शब्द को बोल देने या लिख देने से कुछ नहीं होता। यह तो साक्षात ब्रह्म हो जाने की सच्चाई है।

प्र. 125 संसार से विरक्ति का सही अर्थ क्या है?

उत्तर - छठे अध्याय के 23वें श्लोक में इसे समझाया गया है। यहाँ कहा गया है कि दुःख रूप संसार के संयोग से रहित होना ही विरक्ति है। आसक्ति का विलोम है विरक्ति। आसक्ति का अर्थ है कि वस्तु को सत्य मान कर उसके भोग में आनन्द महसूस करना। इसके विपरीत प्रत्येक वस्तु को असत्य समझते हुए उसके प्रति अनासक्त रहना विरक्ति है। ज्ञानी यह जानता है कि सुख या दुःख देने वाली प्रत्येक वस्तु या प्राणी को एक दिन नष्ट हो जाना है। वस्तु के नष्ट होते ही या उसके छूट जाने पर सुख भी नष्ट हो जाता है, पीछे दुःख रह जाता है। इसीलिए संसार को अन्ततः दुःख रूप कहा गया है। माता-पिता छूट जाते हैं, सगे-संबंधी छूट जाते हैं, खुद के शरीर की ही जवानी छूट जाती है, कई बार प्राकृतिक प्रकोप से जमीन-जायदाद भी नष्ट हो जाते हैं, सम्पत्ति नष्ट हो जाती है - इस तरह दुःख के अनेक हेतु हैं। इसके बाद मनुष्य के मरते ही उसके सम्पूर्ण सुख-साधन यहीं रह जाते हैं। ज्ञानी मनुष्य इस सारी सच्चाई को समझता है। इसलिये संसार में रहते हुए तथा आवश्यकतानुसार वस्तुओं का उपभोग करते हुए भी वह उनके प्रति अनासक्त रहता है। यही विरक्ति है। खाना-पीना, भोग आदि सब शरीर के धर्म हैं। संसार के साथ संयोग भी शरीर का होता है। लेकिन संत-महात्मा तो स्वयं को शरीर समझते ही नहीं हैं। वे अपनी देह के साथ संसार में आत्म भाव से रहते हैं। इसलिये संसार की किसी भी वस्तु अथवा प्राणी के प्रति उनकी आत्मा का संयोग नहीं होता है। इसी अवस्था को विरक्ति माना गया है। विरक्ति का मतलब छोड़कर भागना नहीं है बल्कि सबके साथ अनासक्त भाव से रहना है।

दक्षिणायन और उत्तरायन

प्र. 126 दक्षिणायन और उत्तरायण मार्ग का क्या तात्पर्य है?

उत्तर - आठवें अध्याय में तेइसवें श्लोक से लेकर 28वें श्लोक तक यह प्रसंग समझाया गया है। उत्तरायण यानि सूर्य जब दक्षिण से उत्तर में आ जाता है और दक्षिणायन यानि जब उत्तर से दक्षिण की तरफ चला जाता है। भौतिक दृष्टि से ये सूर्य के गति मार्ग हैं; छः माह उत्तर में और छः माह दक्षिण में। इन्हें क्रमशः कृष्ण मार्ग और शुक्ल मार्ग अथवा पितृयान मार्ग और देवयान मार्ग भी कहा गया है। इनका संबंध योगी स्त्री-पुरुषों से है।

मोटे तौर पर इसे यों समझें कि जो योगी जन मोक्षगामी होते हैं वे तो मृत्यु के बाद उत्तरायण मार्ग से परम धाम तक जाते हैं। इस मार्ग के बीच में अनेक दिव्य लोक हैं जिनके अलग-अलग प्रभारी देवता हैं। उधर दक्षिणायन मार्ग से वे श्रेष्ठ लोग जाते हैं जिनका पुनर्जन्म होता है। इनकी परलोक यात्रा स्वर्ग तक होती है।

तो मुख्य बात यह हुई कि श्रेष्ठ कर्म करने वालों के दो वर्ग हैं; पहला वे जिनको मोक्ष मिल जाता है; दूसरा वे जो देवलोकों में कुछ समय सुख भोगने के बाद पुनः मनुष्य लोक में जन्म लेते हैं। इसी के साथ यह बात भी जुड़ी हुई है कि वस्तुतः ऊपर आकाश में कहीं स्वर्ग या बैकुण्ठ नहीं है; कम से कम इस स्थूल ब्रह्माण्ड में तो नहीं है। विद्वानों का कहना है कि दिव्य ब्रह्माण्ड बाहर नहीं हमारे भीतर ही है। साधना की एक अवस्था स्वर्ग जैसी है और अंतिम अवस्था बैकुण्ठ या मोक्ष जैसी है। जिन संत-महात्माओं के सारे कर्म कट जाते हैं उनकी आध्यात्मिक यात्रा का मार्ग उत्तरायण जैसा चमकीला और आलोकित होता है। ऐसा इसलिये कि ब्रह्म भी ज्योतिर्मयी चेतना है। तो जो ब्रह्म को जान लेता है वह स्वयं भी वैसा ही ज्योतिर्मय हो जाता है। अतः ज्योतिमार्ग उत्तरायण का यही अर्थ समझना चाहिए। दूसरे वर्ग में वे योगी जन आते हैं जिनके सम्पूर्ण संस्कार अभी नहीं कटे हैं। ऐसे सज्जनों के साधना मार्ग में शेष कर्म संस्कारों का धुएं जैसा धुंधलापन विद्यमान रहता है, इसी को दक्षिणायन अथवा पितृमार्ग समझना चाहिए। गीता में एक और प्रतीकात्मक बात कहीं गई है - मोक्षगामी योगी की मृत्यु यदि उस समय होती है जब सूर्य दक्षिणायन हो तब पितृमार्ग का देवता उसकी जीवात्मा को अपने पास रखता है, फिर जब सूर्य उत्तरायण होता है तो उस जीवात्मा को उत्तरायण वाले देवता के सुपुर्द कर देता है। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि ऐसे योगी जन केवल स्थूल प्राण का उत्सर्ग करते हैं और सूक्ष्म प्राण को सुरक्षित रखते हैं। ऐसा इसलिए कि दैहिक मृत्यु का क्षण या समय तो निश्चित होता है। तो ऐसे योगी जनों में इतनी क्षमता अवश्य होती है कि वे अपने सूक्ष्म प्राण स्वेच्छा से छोड़

सकते हैं। जब तक वे चाहें तब तक लोक कल्याण के लिये सूक्ष्म रूप से संसार में विचरण कर सकते हैं। तत्पश्चात सूक्ष्म प्राण त्यागते हुए परम गति को प्राप्त होते हैं। वस्तुतः उत्तरायण वाला चमकीला मार्ग सुषुम्ना मार्ग है। योगी जन के प्राण इसी मार्ग से ब्रह्म रन्ध्र को पार करके ब्रह्मलीन होते हैं। निचले स्तर के योगी जन सूक्ष्म प्राण को अपनी इच्छानुसार वश में नहीं रख पाते हैं। इस तरह उत्तरायण और दक्षिणायन का शाब्दिक वर्णन केवल प्रतीकात्मक है । हाँ, यह जरूर है कि सगुण भक्ति की दृष्टि से जो लोग इस पर विचार करते हैं वे यही मानते हैं कि ब्रह्माण्ड में ही कहीं स्वर्ग लोक है और बैकुण्ठ लोक है । उनके लिये ये दो अलग-अलग मार्ग हैं। दोनों मार्ग अन्तरिक्ष लोक से ऊपर हैं। इससे नीचे क्रमशः जल लोक, वायु लोक व पृथ्वी लोक हैं। आगे जिस लोक में छः-छः माह के दिन-रात होते हैं वही क्रमशः उत्तरायण व दक्षिणायन है। उत्तरायण से आगे का मार्ग संवत्सर लोक, सूर्य लोक, आदित्य लोक, चन्द्र लोक व अग्निलोक से ब्रह्म लोक तक जाता है। दक्षिणायन से आकाश लोक, पितृलोक व चन्द्रलोक होता हुआ पितृयान मार्ग स्वर्ग तक जाता है।

संक्षेप में - 1. निष्काम योगी और सकाम योगियों की परलोक यात्रा के दो मार्ग हैं। 2. निष्काम योगी सुषुम्ना मार्ग से ऊपर चढ़ता है; उसके सारे संस्कार कट चुके हैं। वह त्रिगुणात्मक प्रकृति की मलिनता से पार निकल चुका है; अतः उसके मार्ग को उत्तरायण, प्रकाश मार्ग, शुक्ल मार्ग, देवयान मार्ग आदि कहा गया है। 3. दूसरी तरफ सकाम योगी है; यह अभी प्रकृति के घेरे से पार नहीं निकला है; इसमें अभी बचे हुए संस्कारों की मलिनता बाकी है; फिर भी द्रव्ययज्ञ आदि साधन करके उसने बहुत पुण्य कमाया है; अतः उसके मार्ग को दक्षिणायन, धूसवाला, पितृयान, कृष्णपक्ष आदि बताया गया है । 4. ऐसे सकाम योगी स्वर्ग में कुछ समय बिता कर पुनः जन्म लेते हैं। पूर्व जन्म की अधूरी साधना को आगे बढ़ाते हैं। ...इस तरह अन्ततः उत्तरायण मार्ग से परमगति को प्राप्त करते हैं। 5. ये दोनों मार्ग सामान्य व दुष्ट लोगों के लिए नहीं हैं।

प्र. 127 श्रीकृष्ण ने परमश्रेष्ठ योगी किसे कहा है?

उत्तर - छठे अध्याय के 47वें श्लोक में प्रभु ने कहा है कि 1. जो योगी मेरे प्रति श्रद्धावान है। 2. जो अपनी आत्मा को मेरे परम स्वरूप में स्थिर किए हुए है और 3. जो लगातार मेरा भजन करता है। 4. मेरे निमित्त ही कर्म करता है - ऐसा योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है। सातवें अध्याय के 19वें श्लोक में भी तत्वज्ञानी के माध्यम से ऐसी ही बात कही है - 1. जो मेरे ब्रह्म रूप की प्रत्यक्ष अनुभूति कर चुका है। 2. सम्पूर्ण संसार में मेरे ही चेतन स्वरूप को देखता है। 3. नाशवान प्राणियों एवं वस्तुओं के प्रति अनासक्ति रखता

है। 4. तथा प्रतिपल मेरा ही भजन करते हुए जीवन निर्वाह करता है। 5. ऐसा परम ज्ञान योगी दुर्लभ है।

बारहवें अध्याय के 20वें श्लोक में वे परम भक्त योगी (अनन्य भक्त) के लक्षण बताते हैं कि 1. जो लगातार मेरे ही स्वरूप का चिन्तन करे। 2. मुझे ही अपना आश्रय और परम गति माने। 3. प्राणी मात्र में मेरे ही आत्मा रूप को देखे। 4. श्रद्धापूर्वक अमृत के समान परम शांतिदायक स्वधर्म का पालन करे। 5. और निष्काम भाव से मेरे स्वरूप दर्शन से आनंदित रहे। 6. ऐसा भक्त मेरा 'परम प्रिय' है।

प्र.128 तत्काल सद्गति का क्या उपाय है?

उत्तर - आठवें अध्याय के पांचवें श्लोक के अनुसार 1. जो कोई स्त्री-पुरुष जीवन के अंतिम क्षणों में भी श्रीकृष्ण को ही याद करता है। 2. श्रीकृष्ण के चरणों में ही मन स्थिर रखता है। 3. अपने सांसारिक सगे-संबंधियों के प्रति अनासक्त रहता है तथा 4. श्रीकृष्ण के परम रूप का चिन्तन करते हुए देह त्यागता है। 5. वह सीधा परब्रह्म श्रीकृष्ण के परम धाम को प्राप्त करता है।

प्र. 129 सात महर्षि चार सनकादि व 14 मनुओं के नाम क्या हैं?

1. सात महर्षि - मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ। ...किन्तु प्रत्येक मन्वन्तर में इनके नाम बदल जाते हैं।

2. सनकादि - सनक, सनन्दन, सनातन व सनत्कुमार। यहाँ 'सन' भगवान का ही रूप है। ब्रह्मा जी की तपस्या के परिणाम स्वरूप वे 'चिर कुमार' रूप में प्रकट हुए थे।

3. मनु - ब्रह्मा का एक दिन कल्प कहा जाता है। एक कल्प में 14 मनु होते हैं। मनु के समय को मन्वन्तर कहते हैं। वर्तमान कल्प के मनुओं के नाम हैं- स्वायम्भुव, स्वारोविप (स्वारोचिष), उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुस (चाक्षुष), वैवस्वत, सावर्णि, दक्ष सावर्णि, ब्रह्म सावर्णि, धर्म सावर्णि, रुद्र सावर्णि, देव सावर्णि और इन्द्र सावर्णि ।

प्र. 130 नवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'मैं अमृत भी हूँ और मृत्यु भी; सत् भी हूँ और असत् भी।' यह कैसे ?

उत्तर - श्रीकृष्ण का ब्रह्मरूप सर्वात्मवाद के नाते सबकुछ है। अमृत का मतलब है - जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाना। ईश्वर की कृपा से मनुष्य ऐसी मोक्ष गति प्राप्त कर लेता

है। दूसरे शब्दों में कहते हैं कि उसने तो अमृत पी लिया है। इस तरह 'मैं ही अमृत हूँ' का अर्थ है मैं ही मुक्ति दाता हूँ। भगवान जिस तरह सृष्टि के मूल कारण हैं उसी तरह प्रलय के भी आदि कारण हैं, वे ही काल हैं। उनके काल रूप को मृत्यु कहा गया है। ग्यारहवें अध्याय के 32वें श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मैं लोकों का नाश करने वाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ और इस समय इन सब लोकों को नष्ट करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ।'

अब सत् और असत् की बात करते हैं। दूसरे अध्याय के सोलहवें श्लोक में स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं कि सत् तो वह है जिसका अभाव नहीं है और असत् वह है जिसका अस्तित्व नहीं है। अतः सत् यानि सनातन अव्यक्त चेतना रूप ब्रह्म। अब भगवान स्वयं को असत् भी कहते हैं। यह सांसारिक दृष्टि से कहा गया है। अपरा प्रकृति ही भगवान का असत् रूप है। यह इस तरह कि जड़ प्रकृति में ही यह ब्रह्माण्ड और नश्वर संसार है।

इसे नेति-नेति कहकर भी विद्वानों ने ब्रह्म को समझाया है - ब्रह्म यह भी नहीं, यह भी नहीं, यह भी नहीं आदि-आदि। दूसरी तरफ नकारात्मक शैली से भी इसे स्पष्ट किया गया है - प्रत्येक वस्तु को दिखाते हुए कहना कि यश्ति-यश्ति! अर्थात् यह भी ब्रह्म है, यह भी ब्रह्म है। कुल मिलाकर संक्षेप में अपरा प्रकृति ईश्वर का असत् रूप है और परा प्रकृति उसका सत् रूप है। सातवें अध्याय के चौथे व पांचवें श्लोक में कहा गया है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार; यह आठ प्रकार के भेदों वाली तो मेरी अपरा प्रकृति है। इससे दूसरी तरफ मेरी जीव रूपा परा या चेतन प्रकृति है, जिससे मैं यह सम्पूर्ण जगत धारण किए हुए हूँ। इससे आगे छठे श्लोक में भी वे कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण जगत का उत्पत्ति एवं प्रलय रूप हूँ। इन तीनों श्लोकों से भगवान का काल, सत् और असत् रूप स्पष्ट हो जाता है।

भौतिक विज्ञान भी इस बात को मानता है - ऊर्जा तो सत् है और पदार्थ असत् है। पदार्थ का अन्तिम रूप ऊर्जा ही है।

प्र. 131 यज्ञ हमें कौन से पापों से पवित्र करते हैं?

उत्तर - यह बात नौवें अध्याय के बीसवें श्लोक में कही गई है। यज्ञ हमें देव ऋण रूपी पाप से मुक्त करते हैं। जो लोग स्वर्ग प्राप्ति के लिये यज्ञ करते हैं उन्हें पितृ ऋण, मातृ ऋण और देव ऋण से भी मुक्त होना होता है। बीसवें श्लोक में कहा गया है कि वेदों में विधान किए हुए सकाम कर्मों को करने वाले, पापों से पवित्र हुए स्त्री-पुरुष मुझे यज्ञों के

द्वारा पूजकर स्वर्ग की प्राप्ति चाहते हैं। ऐसे मनुष्य अपने पुण्यों के फलस्वरूप इन्द्र लोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं।

प्र. 132 ईश्वर की संकल्प शक्ति क्या है?

उत्तर - नवें अध्याय के चौथे व छठे श्लोक में तथा तेरहवें अध्याय के तीसवें श्लोक में ब्रह्म की संकल्प शक्ति का उल्लेख है, जैसे - सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्प के आधार से स्थित हैं....मेरे ही संकल्प द्वारा उत्पत्ति वाले होने से सम्पूर्ण भूत मेरे में स्थित हैं....योगी पुरुष समस्त संसार को परमात्मा के संकल्प के आधार पर स्थित देखता है। इस तरह स्पष्ट होता है कि संकल्प परमात्मा की अनादि-अनन्त चेतन शक्ति ही है। जिस तरह एक कोशिका (जो आंखों से देखी नहीं जा सकती) में पच्चीस लाख जीन्स और मनुष्य का सम्पूर्ण शरीर सूक्ष्म रूप से निहित रहता है; उसी तरह यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म की चेतन रूप संकल्प शक्ति में लय रहता है। यही शक्ति इस विश्व को व्यक्त करती है। वैसे ही जैसे कि जनन कोशिका की जीव शक्ति उसमें से बच्चे को आकार देते हुए व्यक्त कर देती है। नवें अध्याय के दसवें श्लोक में भगवान कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण शक्ति का अधिष्ठाता हूँ, मेरी माया शक्ति ही चर-अचर सहित सम्पूर्ण जगत को रचती है। यह माया ब्रह्म की भौतिक शक्ति है और जीव रूपा परा प्रकृति उसकी अलौकिक शक्ति है। ये दोनों शक्तियाँ मिलकर ईश्वर की संकल्प शक्ति कहलाती हैं। ईश्वर की यह परम चेतन शक्ति अक्षय होती है। भौतिक विज्ञान भी एनर्जी को अक्षय मानता है यानि ऊर्जा कभी नष्ट नहीं होती है; बस उसका रूप बदल जाता है।

सामान्य तौर पर हमारे संकल्प हमारे विचार होते हैं। विचारों की अभिव्यक्ति ही कार्य रूप में होती है। कार्य स्थूल है विचार सूक्ष्म हैं। ये विचार भी तरंग रूप में अति सूक्ष्म हैं। यह सारा खेल भी अपरा प्रकृति की सूक्ष्म शक्ति का परिणाम है। मतलब यह कि हमारे विचार या हमारे सम्पूर्ण कार्य अति सूक्ष्म रूप से हमारे भीतर हमारी बुद्धि में व्याप्त रहते हैं। ऐसे ही सम्पूर्ण संसार सूक्ष्म रूप से अपरा प्रकृति में व्याप्त रहता है। यह अपरा प्रकृति यानि भौतिक सूक्ष्म शक्ति ब्रह्म की चेतन शक्ति में निहित रहती है। इसी बात को दूसरे शब्दों में यों कहा जाता है कि ब्रह्म सम्पूर्ण संसार को अपनी संकल्प शक्ति से धारण किए हुए है। हम नहीं जानते कि स्वयं हमारे भीतर ही कौन-कौन से कार्य विचार रूप से छिपे हुए हैं। इसी तरह हम यह भी नहीं जानते कि सृष्टि के कैसे-कैसे रहस्य या कैसे-कैसे रूप सूक्ष्म रूप से ब्रह्म कही जाने वाली परम चेतन शक्ति में छिपे हुए हैं।

प्र. 133 सब भूतों का सनातन कारण परमात्मा को क्यों कहा गया है?

उत्तर - नवें अध्याय के तेरहवें श्लोक में कहा गया है कि संत-महात्मा लोग श्रीकृष्ण को समस्त संसार का सनातन कारण मानते हैं। उधर सातवें अध्याय के छठे श्लोक में भी श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मैं सम्पूर्ण जगत का मूल कारण हूँ।'

सनातन का मतलब है सदैव से अर्थात् अनादि काल से। यह सृष्टि और प्रलय का चक्र अनादि काल से ही चल रहा है। इसे परब्रह्म रूप श्रीकृष्ण की माया शक्ति का ही परिणाम समझें। माया का ही पर्यायवाची शब्द प्रकृति है। तो इस संसार यानि सृष्टि और प्रलय का प्रत्यक्ष कारण तो परा और अपरा प्रकृति का संयोग एवं वियोग है। संयोग अर्थात् जड़ और चेतन शक्तियों का संयोग, ऐसे ही वियोग यानि इन दोनों शक्तियों का पुनः अलग हो जाना। इन दोनों शक्तियों का आश्रय परब्रह्म है। इस परा और अपरा शक्ति का शक्तिमान परब्रह्म है। इसलिए कहा गया है कि सम्पूर्ण भूतों का सनातन कारण परब्रह्म है।

प्र.134 माया को अलौकिक व दुस्तर क्यों कहा है?

उत्तर - सातवें अध्याय के चौदहवें श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'यह अलौकिक अर्थात् अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योग माया बड़ी दुस्तर है।' हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि माया और प्रकृति परस्पर पर्यायवाची हैं। यह ईश्वर की अपरा शक्ति है। इसका नियंत्रण या अधिष्ठान परमात्मा में होने के कारण इसे अलौकिक कहा गया है। यदि इसका नियंत्रण या आश्रय प्रकृति में ही होता तो इसे अलौकिक नहीं कहते। त्रिगुणात्मक होने के कारण इसे अद्भुत कहा है। इसमें सतोगुण तो अच्छी राह पर लगाता है, रजोगुण कामनाओं के पीछे दौड़ाता है और तमोगुण बुरी राह पर लगाता है - यह एक ही माया शक्ति तीन तरह के कार्य कर रही है; इसलिये यह अद्भुत है।

इससे पार पाना बहुत मुश्किल कहा गया है। यह अनादि काल से जीवात्मा को मोहित किये हुए है यानि उसे भोग-विलास और रिश्तों की ममता में फंसाए हुए है। यह मोह-पाश जन्म-जन्मांतरों तक चलता रहने के कारण दुस्तर (जिसे काटना मुश्किल) हो जाता है। इतना ही नहीं यह माया शक्ति आत्मा के सत्य को भी छिपाए हुए रहती है। सातवें अध्याय के 25वें श्लोक में स्वयं वासुदेव श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'अपनी योग माया से छिपा हुआ मैं सब मनुष्यों के सामने प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ। इसलिये यह अज्ञानी मनुष्य मुझे भी जन्म लेने और मरने वाला समझता है।' मतलब यह कि उक्त माया शक्ति इतनी अधिक प्रबल है। फिर भी इससे छूटने का एक सुगम उपाय स्वयं भगवान ने ही बताया है - निरन्तर प्रभु का भजन करना। सातवें अध्याय के ही चौदहवें श्लोक में यह कथन है

कि 'जो स्त्री-पुरुष निरन्तर मेरा भजन करते हैं वे इस माया के दुस्तर पाश को भी सरलता पूर्वक काट देते हैं, अर्थात् संसार से तर जाते हैं।'

प्र.135 बारहवें अध्याय में आत्मोद्धार के कौन से चार उपाय बताए गए हैं?

उत्तर - बारहवें अध्याय के 7, 8, 9 व 10वें श्लोक में प्रत्येक मनुष्य के लिए आत्मोद्धार के चार उपाय बताए गए हैं - 1. अपना मन या चित्त प्रभु के चरणों में स्थिर कर लेना। ऐसे स्थिर मन के साथ पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक कर्त्तव्य पूरे करना। 2. जिनका मन स्थिर नहीं होता है वे प्रभु का गुणगान करें, कीर्तन करें, परमात्मा संबंधी साहित्य पढ़े, भजन सुनें और इस तरह मन को प्रभु में लगाने का अभ्यास करें; साथ ही जीवन के कर्म भी करते रहें। 3. अपने स्वभाव के कारण यदि यह भी नहीं होता हो तो सारे कर्म ईश्वर को अर्पित करते हुए जीवन व्यतीत करें। 4. राजसी व तामसी संस्कारों के कारण यदि कर्मों का समर्पण भी सम्भव नहीं हो तो सर्व कर्मों के फल का मेरे लिए त्याग करना श्रेष्ठ है और त्याग से तत्काल ही परम शांति होती है। इस तरह अलग-अलग स्वभाव वाले मनुष्यों को ध्यान में रखते हुए आत्म कल्याण के ये चार वैकल्पिक उपाय बताए गए हैं। गीता में जगह- जगह इनकी विशद व्याख्या है।

प्र. 136 परम शांति को प्राप्त मनुष्य कैसा होता है?

उत्तर - बारहवें अध्याय के 13वें श्लोक में ऐसे मनुष्य के अनेक लक्षण बताए गए हैं - 1. वह किसी के भी प्रति द्वेष नहीं रखता है। 2. वह निःस्वार्थी होता है। 3. उसके हृदय में सबके प्रति प्रेमभाव रहता है। 4. वह बिना किसी कारण के सबके प्रति दया भाव रखता है। 4. वह मोह और अहंकार से मुक्त होता है। 6. अपने शत्रु को भी क्षमा करने वाला होता है और 7. सुख-दुःख में समान भाव से स्थिर रहता है। इसके बाद सोलहवें श्लोक में कहते हैं कि मुझे ऐसा भक्त बहुत प्रिय है।

प्र. 137 बुद्धि के आठ रूप कौन-कौन से होते हैं?

उत्तर - गीता के ज्ञान योग का संबंध बुद्धि से है। इसलिये बुद्धि को समझ लेना जरूरी है। बुद्धि के आठ रूप होते हैं - धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य; ये चार तो सकारात्मक रूप हैं और इन्हीं के विलोम चार नकारात्मक रूप हैं - अधर्म, अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वर्य। अवैराग्य के भी दो भाग हैं - राग और द्वेष। इस तरह नकारात्मक बुद्धि के पांच रूप हो गए। इन्हीं को महर्षि पतंजलि ने पांच क्लेश कहा है, जिनका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं।

प्र. 138 तेरहवें अध्याय में जीव-जगत को क्षण भंगुर क्यों कहा है?

उत्तर - यह संसार प्रति पल परिवर्तित होता रहता है। हमारे शरीर का भी प्रति क्षण क्षय (काल के कारण) होता रहता है। यहाँ किसी भी क्षण कोई सी भी वस्तु पूर्णतः नष्ट हो सकती है। जीव विज्ञान कहता है कि हमारे शरीर की कोशिकाएं रोज ही टूटती हैं (विभाजित होती हैं) और नई बनती रहती हैं। इसीलिये जीव-जगत को क्षण भंगुर कहा गया है।

इसे समझाने के लिए महात्मा बुद्ध से जुड़ी एक कथा है - वे अपने शिष्य आनन्द के साथ कहीं जा रहे थे। उनके एक विरोधी ने उन पर थूक दिया। गौतम बुद्ध चुपचाप आगे चल दिये। आनन्द ने टोका कि इसकी शिकायत राजा से करनी चाहिए। गौतम बुद्ध बोले कि किसकी शिकायत? जिसने थूका वह तो अब है नहीं; थूकने वाला तो दो मिनट पहले था। जिस पर थूका वह भी अब नहीं है क्योंकि दो मिनट पहले वाले शरीर और अभी के शरीर में अन्तर आ गया है। इसलिये शिकायत किसकी करूं? यही सच है; बस हमें दिखता नहीं है। पल-पल परिवर्तन की यह प्रक्रिया इतनी तेज और चुपचाप होती है कि हमारी पकड़ में नहीं आती।

भगवान राम ने जब लक्ष्मण को मरणासन्न रावण के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए भेजा था तो रावण ने लक्ष्मण जी को बीस उपदेश दिए थे, उनमें एक यह था कि समय और उसके साथ-साथ यह संसार प्रति क्षण बदलता रहता है। इसे समझाने के लिये उसने एक प्रयोग किया। सात पत्ते लिए और एक अभिमंत्रित सींक से सातों को एक साथ छेद दिया। सातों के वर्ण और गुण तत्काल बदल गये। जैसे पहला पत्ता स्वर्ण हो गया और आखरी पत्ता लौह वर्ण का हो गया। इस तरह यह ध्रुव सत्य है कि संसार क्षण भंगुर है।

प्र. 139 आत्मा से ही सम्पूर्ण जगत प्रकाशित है; कैसे?

उत्तर - यह बात तेरहवें अध्याय के 33वें श्लोक की है - एक ही आत्मा सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है। यह इस तरह होता है - ब्रह्म ज्योतिर्मय चेतना है। उसी की शक्ति यानि जीव रूपा परा प्रकृति और जड़ रूपा अपरा प्रकृति के संयोग से यह संसार उत्पन्न होता है। इस कारण यहाँ की सम्पूर्ण वस्तुएं उसी ब्रह्म ज्योति से प्रकाशित हैं। हमारे भीतर आत्म ज्ञान भी उसी का प्रकाश है तो चांद-तारों में भी इनके मूल कारण-भूत ज्योतिर्मय ब्रह्म का ही प्रकाश है।

भौतिक विज्ञान मानता है कि इस संसार का प्रत्येक पदार्थ ऊर्जा का ही परिवर्तित रूप है। बस, इसी तरह अध्यात्म विज्ञान का मानना है कि सम्पूर्ण संसार विराट ब्रह्म ज्योति का ही अंश रूप होने से प्रकाशित है।

प्र. 140 मनुष्य की तरह उसका कर्म भी नश्वर है; फिर इसके परिणामस्वरूप अनश्वर मोक्ष कैसे मिल जाता है?

उत्तर - देखिये, मोक्ष तो सदैव है। यह सोचना गलत है कि वह पहले नहीं था और आगे मिल जाएगा। प्रत्येक मनुष्य में सदैव से ही मोक्ष है लेकिन उस पर अज्ञान का आवरण पड़ा हुआ है। मनुष्य का कर्म केवल उस आवरण को हटा देता है और हमें अपना मुक्त रूप (मोक्ष) दिख जाता है। इसलिये यह विचार ही गलत है कि मोक्ष मिल गया। इसे यों कहना चाहिये कि पहले हम अपनी मुक्तावस्था को जानते नहीं थे; और अब जान लिया। महात्मा कबीर ने कितना साफ लिखा है कि -

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाँहि।
जग अंधियारा मिट गया, दीपक देख्या माँहि॥

अर्थात् जब तक अज्ञान का अंधकार था तब तक अन्तस्थ परमात्मा नहीं दिखा। यही बंधन की अवस्था है। भीतर ज्यों ही आत्मज्ञान का प्रकाश हुआ, अन्तस्थ ब्रह्म दिख गया। यही मोक्ष है। तो मोक्ष या ब्रह्म तो भीतर ही है। केवल दो स्थितियों का अंतर है, दिखना और नहीं दिखना; अज्ञान और ज्ञान; बंधन और मुक्ति। गीता में श्रीकृष्ण ने भी तीन बार कहा है कि मैं अन्तर्यामी रूप से सब प्राणियों के हृदय देश में स्थित हूँ।

प्र. 141 मृत्यु क्या है?

उत्तर - गीता में अनेक बार आया है कि जन्म-मृत्यु से छुटकारा पाना ही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है। इसलिए समझ लें कि मृत्यु क्या है? सामान्यतः स्थूल देह और सूक्ष्म देह का अलग हो जाना ही मृत्यु है। ये दोनों स्थूल प्राण की डोर में बंधे रहते हैं। इसके टूटते ही दोनों अलग हो जाते हैं और मनुष्य मर जाता है। किन्तु यह तो आंशिक मृत्यु या देह परिवर्तन की अवस्था है। जीवात्मा हमारे सूक्ष्म शरीर को लेकर दूसरी देह में जन्म प्राप्त कर लेती है। यह सूक्ष्म शरीर पांच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों, पांच सूक्ष्म कर्मेन्द्रियों, सूक्ष्म प्राण और अन्तःकरण का संगठन होता है। यह सूक्ष्म प्राण के जरिए जीवात्मा से बंधा रहता है। यही सूक्ष्म शरीर सैकड़ों बार, बचे हुए कर्म भोगने के लिये, देह धारण करता है। मनुष्य की अन्तिम मृत्यु तो तब होती है जब सूक्ष्म और कारण देह भी मर जाती है, अर्थात् सूक्ष्म

प्राण की डोर भी टूट जाती है। जीवात्मा का जीव भाव समाप्त हो जाता है और केवल नित्य मुक्त आत्मा रह जाती है। आत्मा अविनाशी होती है। इस तरह मृत्यु दो प्रकार की हुई - आंशिक और पूर्ण। आंशिक मृत्यु यानि देहान्त और पूर्ण मृत्यु यानि मोक्ष।

प्र. 142 श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मेरा न कोई प्रिय है न अप्रिय'। यह कैसे?

उत्तर - श्रीकृष्ण ने गीता में कई बार कहा है कि मुझे तत्वज्ञानी, योगी और भक्त बहुत प्रिय हैं। मैं उनमें हूँ और वे मुझमें हैं। किन्तु वे यह भी कहते हैं कि मेरा कोई प्रिय अथवा अप्रिय नहीं है। यह बात सामान्य लोगों की समझ में नहीं आती है। वस्तुतः सगुण ब्रह्म के साथ भक्तों की बात जुड़ी हुई है। तो जब वासुदेव भगवान यह कहते हैं कि भक्त मुझे प्रिय हैं तो यह उनके सगुण रूप की सच्चाई है।

पुराण में एक कथा मिलती है कि - परम भक्त नरसी मेहता को एक बार शिवजी भगवान श्रीकृष्ण के पास बैकुण्ठ लोक में ले गए। वहाँ भगवान नरसी मेहता को कहते हैं कि नरसी जी! इन दिनों हम श्रीकृष्ण के अवतार रूप से द्वारिका में विराजमान हैं। वहाँ हम आपके गुमाश्ते हैं। कोई काम हो तो लिखना । ...तो यह सगुण लीला है।

जब श्रीकृष्ण ऐसा कहते हैं कि न मेरा कोई प्रिय है न अप्रिय; यह निर्गुण ब्रह्म का सत्य है। देखो, परमात्मा की तीन शक्तियां हैं - ब्रह्म शक्ति, जीव शक्ति और माया शक्ति। इस संसार का सारा बखेड़ा; भक्त, ज्ञानी, योगी, जीवन, मृत्यु, सृष्टि, प्रलय आदि जीव शक्ति और माया शक्ति के संयोग का परिणाम है। यह ब्रह्म के प्रथम पुरुष रूप महा विष्णु का खेल है। ब्रह्म शक्ति तो सबसे अलग रहती है। वह सृष्टि चक्र में शामिल नहीं होती है। इसीलिए कहा गया है कि परब्रह्म का न तो कोई प्रिय है न कोई अप्रिय। नवें अध्याय के 29वें श्लोक में श्रीकृष्ण ने यह कहा है कि 'न कोई मेरा प्रिय है न अप्रिय। फिर भी जो भक्त मुझे प्रेम से भजते हैं वे मेरे में (सगुण ईश्वर में) और मैं सगुण रूप से उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

प्र. 143 दुष्ट किस तरह के लोगों को कहा गया है?

उत्तर - सातवें अध्याय के 15वें श्लोक में यह बात समझाई गई है। दुष्ट वे लोग हैं जो भगवान की सर्व कल्याणकारी भक्ति नहीं करते हैं। ऐसे लोग चार प्रकार के होते हैं 1. भगवान की माया शक्ति ने जिनका ज्ञान नष्ट कर दिया है। इस श्रेणी में बुद्धिजीवी लोग आते हैं जो भौतिक दृष्टि से तो ज्ञानी हैं लेकिन ईश्वर की सत्ता में संशय करने के कारण माया से विमोहित माने जाते हैं। 2. आसुरी स्वभाव वाले जो अहंकार वश पाप

कर्म करते रहते हैं। 3. नराधम अर्थात् अधम कोटि के मनुष्य जो नीच कर्मों में लिप्त रहते हैं। 4. मूढ़ अर्थात् मूर्ख लोग जो केवल स्वयं के लिए सुख अर्जित करना चाहते हैं।

प्र. 144 दूसरे अध्याय में धर्म युद्ध को स्वर्ग का खुला द्वार क्यों कहा है?

उत्तर - यह बात दूसरे अध्याय के 32वें श्लोक में कही गई है। श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा अर्जुन को समझा रहे हैं कि क्षत्रिय के लिए धर्म युद्ध स्वर्ग के खुले द्वार जैसा होता है। ऐसे युद्ध में वीरगति प्राप्त करने वाले मनुष्य को स्वर्ग लोक में स्थान मिलता है। वस्तुतः योगी, संन्यासी और वीरगति प्राप्त करने वाले योद्धा - इन तीनों की बुद्धि स्थिर होती है। ये जन्म-मृत्यु से ऊपर उठकर अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते हैं। ऐसी सम बुद्धि की अवस्था में देह त्यागने वाली जीवात्मा सूर्य मंडल को पार करती हुई स्वर्ग में थोड़े समय आराम करती है। फिर वहाँ से भी अन्य दिव्य लोकों को पार करती हुई परमधाम को प्राप्त करती है।

हम पहले लिख चुके हैं कि इन्द्र ने भी राजा पुरु को वरदान दिया था कि कुरुक्षेत्र में जो भी मनुष्य वीर गति प्राप्त करेगा उसे स्वर्ग लोक के सुख प्राप्त होंगे। यही कारण है कि श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को इस सत्य से अवगत कराया।

प्र. 145 क्या ज्ञान भी तामसिक हो सकता है? कैसे?

उत्तर - हां, विपरीत ज्ञान तामसिक ही होता है। जो ज्ञान शरीर को ही सर्वस्व रूप में स्थापित करता है, शरीर में ही आसक्ति बढ़ाता है उसे तामसिक ज्ञान कहते हैं। ऐसे ज्ञान के प्रभाव से ही मनुष्य आत्म-सत्य की उपेक्षा करके मात्र शारीरिक भोगों तक सीमित रहता है। वह आत्मा की सच्चाई की उपेक्षा करता है। ऐसे लोग परमात्मा के विरोधी काम ज्यादा करते हैं; जैसे दुर्योधन, दुशासन आदि ने किए थे। ऐसे स्त्री-पुरुष अपराध कर्मों की तरफ सरलतापूर्वक प्रवृत्त हो जाते हैं। ...कबीर दास जी को बदनाम करने के लिए उनके विरोधियों ने एक वैश्या को धन का लालच दिया। उसे समझाया कि कबीर को बीच बजार में पकड़ कर शोर मचाना; कहना कि यह मेरा पति है; गुपचुप शादी की थी; अब छोड़ दिया है। ...वैश्या ने ऐसा ही किया। यह तामसिक ज्ञान वाली तुच्छ प्रवृत्ति का उदाहरण है। ...कौरवों की राज्यसभा में श्रीकृष्ण का विराट रूप देखकर भी दुर्योधन उनकी असलियत को नकारता रहा। यह तामसिक ज्ञान का प्रभाव था।

प्र. 146 दोष युक्त होने पर भी सहज कर्म नहीं छोड़ने चाहिए; क्यों?

उत्तर - अठारहवें अध्याय के चार श्लोकों (45 से 49 तक) में इसका जवाब दिया गया है। 1. प्रत्येक मनुष्य के संस्कारों के अनुसार उसका वर्ण और वर्ण के आधार पर उसके कर्म स्वयं परमात्मा का विधान निर्धारित करता है (4/13, 18/41)। 2. इन स्वाभाविक या सहज कर्मों को कर्त्तव्य भाव से करना भी प्रभु की पूजा ही है। 3. इनका निर्वाह करने वाले को पाप नहीं बाँधता है। 4. इस विधि से मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है। 5. जिस तरह अग्नि से धुंआ धीरे-धीरे तिरोहित हो जाता है; उसी प्रकार कर्त्तव्य भाव के प्रभाव से स्वधर्म के दोष भी मिट जाते हैं; उदाहरण - देश की रक्षा करते हुए शत्रु सैनिक को मारने से हत्या का दोष नहीं लगता है। ...सम्पूर्ण गीता में जहां-जहां भी कर्म का प्रसंग है, वहाँ सहज, स्वाभाविक या नियत कर्म पर ही जोर दिया गया है।

प्र. 147 योगियों के कुल में जन्म लेने से क्या तात्पर्य है?

उत्तर - ऐसी बात छठे अध्याय के 42वें श्लोक में आई है। यहाँ भगवान कहते हैं कि किसी जन्म में साधना से भ्रष्ट हो गए मनुष्य का अगला जन्म योगियों के कुल में होता है, जिससे कि वह अपनी अधूरी रह गई साधना को आगे बढ़ा सके। इसका मतलब यह नहीं है कि वह किसी योगी के घर में उसके पुत्र या पौत्र के रूप में पैदा होता है। यहाँ कुल का मतलब आश्रम, मठ या किसी फकीर की दरगाह आदि है। ऐसा साधक किसी योगी या संत की शरण में, पूर्व में की गई साधना के प्रभाव से पहुंच जाता है। यद्यपि ऐसा संयोग बहुत कठिन होता है। देखिये, मीराबाई को मुक्त होना था तो उन्हें रैदास जैसा महान संत मिल गया।

स्वयं रैदास को अगले जन्म में भी रामानन्द जी गुरु के रूप में मिल गए। ज्ञान के अहंकार में डूबे हुए मौलाना रूम का उद्धार करने के लिये उन्हें शम्स तबरेज जैसा महान फकीर मिला। इन्दुमति नाम की वैश्या को उसके पूर्व कर्मों के आधार पर कबीरदास जी मिले। ...तो ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो गीता में कही गई इस बात को सिद्ध करते हैं। स्वामी प्रभुपाद जी महाराज ने भी गीता की व्याख्या करते हुए कहा है कि सिद्ध गुरु अथवा पूर्ण संत भाग्य वालों को ही मिलते हैं। राधास्वामी मत के चरण सिंह जी महाराज ने भी संत-संवाद पुस्तक के दूसरे भाग में ऐसी ही बात कही है। कबीर दास जी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि सिर के मोल सिद्ध गुरु मिल जाए तो भी समझो कि सस्ते में काम हो गया।

प्र. 148 गीता की विषय वस्तु के मोटे-मोटे पांच भाग कौन-कौन से हैं?

उत्तर - गीता में इन पांच प्रमुख विषयों की व्याख्या की गई है - ब्रह्म के स्वरूप की, परा और अपरा प्रकृति की, जीवात्मा की, काल की और कर्म की। ब्रह्म के सगुण और निर्गुण

रूप को समझाते हुए निष्कर्षतः उसे अन्तःस्थ बताया गया है। यह संसार और उसके सारे जीव ईश्वर की माया शक्ति अर्थात् अपरा प्रकृति के परिणाम हैं। इस त्रिगुणात्मक प्रकृति को तेरहवें और चौदहवें अध्याय में विस्तारपूर्वक समझाया गया है। इसी तरह जीवात्मा यद्यपि ब्रह्म का अंश है तो भी उसे मनुष्य के समस्त भोगों का हेतु रूप बताया गया है। काल, ब्रह्म की संहार शक्ति है। सगुण रूप में इसके अधिष्ठाता रुद्र हैं। दसवें अध्याय में भगवान कहते हैं कि मैं ही महाकाल हूँ। गीता में जहां-जहां भी संसार की नश्वरता का प्रतिपादन है वहाँ काल की ही व्याख्या है। कर्म तो गीता की केन्द्रीय विषय वस्तु है - निष्काम कर्म, अकर्म, विकर्म, सकाम कर्म, नियत कर्म, स्वाभाविक कर्म, स्वधर्म रूपी कर्म आदि अनेक तरह से कर्म की विशद् व्याख्या की गई है। गीता का कर्मयोग पूरे विश्व के शिक्षित समाज में जाना जाता है। इस तरह श्रीमद्भगवद्गीता में ये पांच विषय प्रमुख रूप से समझाए गए हैं।

प्र. 149 गीता में 'पुरुष' का क्या अर्थ है?

उत्तर - मोटे तौर पर उसके दो अर्थ हैं - मुक्त या अव्यक्त पुरुष यानि परमात्मा और बद्ध पुरुष अर्थात् मनुष्य। बद्ध पुरुष का जीवात्मा कर्ता-भोक्ता भाव के कारण अनेक जीव योनियों में भटकता रहता है।

13वें अध्याय के 21 और 22वें श्लोक में पुरुष के अनेक रूप समझाए गये हैं - 1. मनुष्य का शरीर तीन देहों का संगठन है - स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह। त्रिगुणात्मक माया से मोहित होकर जब जीवात्मा इन तीनों शरीरों से बंध जाता है तो उसे बद्ध पुरुष कहते हैं। यह स्वयं को सांसारिक सुख-दुख का भोक्ता समझता है। 2. आत्मा रूप से प्रत्येक जीव के भीतर स्थित अनादि पुरुष ही उपद्दष्टा (निकट से देखने वाला) कहा जाता है। वह साक्षी भाव से हमारे समस्त कर्मों को देख रहा है। आप अच्छा करें या बुरा काम करें, वह असंलग्न भाव से मात्र देखता रहता है। 2. जब मनुष्य भक्ति आराधना करने लगता है तो हमारे हृदय में बैठा हुआ यह पुरुष स्वयं की भूमिका बदल लेता है। अब वह तटस्थ नहीं रहता बल्कि अपने भक्त को सही राह दिखाता है, आराधना के अनुभव देता है; आतंरिक अनुमान भाव से भक्त को कर्म योगी व ज्ञानी का मार्ग-दर्शन करने लगता है। तब वह उपद्दष्टा से 'अनुमनता' हो जाता है। 3. साधना, आराधना, कर्म योग आदि का अभ्यास और अधिक परिपक्व होने पर वही अनादि ब्रह्म रूपी पुरुष उस मनुष्य के योग-क्षेम (जीवन के लिए जरूरी वस्तुओं की व्यवस्था व उनकी रक्षा) की व्यवस्था करता है (गीता - 9/22)। अब वही पुरुष 'कर्ता' हो जाता है; सबका भरण-पोषण करने वाले भगवान विष्णु का रूप । 4. इसके बाद वह भोक्ता भी है - यज्ञों में दी जाने वाली आहुतियाँ ग्रहण

करता है; हमारे पूजा-पाठ, अर्चना, तप आदि को ग्रहण करता है - तीसरे अध्याय के 15वें श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि सब यज्ञों में मैं ही परब्रह्म रूप से प्रतिष्ठित हूँ और यज्ञों का फल भी मैं ही देता हूँ। ऐसे ही आठवें अध्याय के चौथे श्लोक में कहा गया है कि 'मनुष्यों के शरीर में मैं वासुदेव ही विष्णु रूप से अधियज्ञ हूँ।' (यज्ञों का भोक्ता)। ...नौवें अध्याय के 26वें श्लोक में भगवान ने यह भी कहा है कि 'मेरे भक्त मुझे जो पत्र-पुष्प, फल, जल आदि प्रेमभाव से अर्पित करते हैं उसे मैं सगुण रूप से प्रकट होकर ग्रहण करता हूँ। इस तरह अनादि पुरुष भोक्ता भी है। 5. यही पुरुष समस्त दिक्पालों, देवताओं सहित ब्रह्मा जी का भी नियमन करता है; वह ब्रह्मा, विष्णु व महेश से भी ऊपर है - इसलिए वह 'महेश्वर' है। 4. इस ब्रह्माण्ड से, समस्त लोकों से व सगुण-निर्गुण भेद से भी परे है; अतः वह परमात्मा है।

....यह भी याद रखें कि सांसारिक स्तर पर पुरुष का मतलब स्त्री-पुरुष दोनों से है।

प्र. 150 'अनुगीता' क्या है?

उत्तर - यह महाभारत ग्रंथ में 'अश्वमेध पर्व' का अंश है - सोलहवें अध्याय से उन्नीसवें अध्याय तक। इसमें भी श्रीकृष्ण का उपदेश है। महाभारत युद्ध के बाद द्वारका लौटने से पहले भगवान ने अर्जुन को पुनः आत्म-ज्ञान सम्बन्धी उपदेश दिया था। इसी को उत्तर-गीता अथवा 'अनुगीता' कहते हैं। इससे समझाया गया है कि आत्मज्ञानी मनुष्य मृत्युंजयी हो जाता है।

उपसंहार - इस तरह गीता की विषय-वस्तु को हमने उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है। जो प्रश्न श्रीकृष्ण के उपदेश (कर्म योग, ज्ञान योग और भक्ति योग) से प्रत्यक्षतः जुड़े हुए नहीं हैं उन्हें हमने छोड़ दिया है। अध्याय दस, ग्यारह, तेरह, चौदह, सोलह व सत्रह के आधार पर और भी कई प्रश्न बनते हैं जिन्हें फिलहाल छोड़ दिया गया है। हमारा उद्देश्य विशेष रूप से कर्म-योग, ज्ञान-योग और भक्ति-योग को समझाना रहा है। इसके लिये ब्रह्म और प्रकृति की जितनी व्याख्या जरूरी थी उतनी ही की गई है।

इनके अलावा एक और अध्याय इस पुस्तक में जोड़ा जा रहा है - आज के युग में गीता के उपदेश का व्यवहार क्या सम्भव है? दूसरा प्रश्न यदि प्रारब्ध ही सबकुछ है तो फिर मनुष्य स्वयं को कैसे सुधारे; उसे तो केवल पूर्व कर्मों के फल भोगने हैं तो क्या यह मनुष्य जीवन

इतना विवश होता है? कुछ इसी तरह के प्रश्नों का सीधा सटीक जवाब देने के लिये अगले अध्याय का प्रावधान रखा गया है।

कुछ विशेष

तो क्या श्रीकृष्ण और मनुष्य का प्रारब्ध ही सबकुछ है?

एक आईएएस अधिकारी ने यह कहा कि 'मैं तो शिवोपासक हूँ; श्रीकृष्ण के प्रति मेरे मन में अनन्य श्रद्धा नहीं है; तो फिर गीता मेरा उद्धार कैसे करेगी?'

यह प्रश्न ब्रह्म या परमात्मा संबंधी अवधारणा को भलीभांति नहीं समझने का परिणाम है। धरती पर जिस तरह सूर्य के प्रकाश को भारत और अमेरिका जैसे वर्गों में विभाजित नहीं किया जा सकता, उसी तरह ब्रह्म चेतना के भी टुकड़े नहीं किए जा सकते कि यह तो महादेव हैं और यह श्रीकृष्ण हैं। जैसे, ब्रह्माण्ड एक ही है और उसमें चौदह लोकों की परिकल्पना की गई है। इन लोकों के नाम भी अलग-अलग हैं वैसे ही ब्रह्म तो सनातन अव्यक्त चेतना है जिसकी संज्ञा कहीं महादेव है तो कहीं महा विष्णु है; कहीं आद्या शक्ति है तो कहीं श्रीकृष्ण है। जब गीता में श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि -

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वं सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (18/66)

तब इसका मतलब अवतारी श्रीकृष्ण तक सीमित नहीं है बल्कि सनातन अव्यक्त चेतना रूप परब्रह्म तक व्यापक है। भगवान ने ऐसा क्यों कहा? इसे भी समझ लीजिए - परब्रह्म का प्रथम पुरुष रूप (सगुण) महा विष्णु है। इसके बाद ब्रह्मा, विष्णु, महेश - ये तीन आदि देव हैं जो क्रमशः सृष्टि, स्थिति और संहार के अधिष्ठाता हैं। ये तीनों ही महाप्रलय के समय शांत हो जाते हैं अर्थात् ये तीनों भी पुनरगामी हैं; सृष्टि के साथ ही व्यक्त होते हैं और महाप्रलय के साथ ही शांत हो जाते हैं, किन्तु ब्रह्म शाश्वत है; वह अनादि-अनन्त है। वह सृष्टि से पहले भी था और महाप्रलय के बाद भी रहता है। तो जो मनुष्य जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा चाहते हैं वे केवल उस परब्रह्म की शरण मे जाएं, क्योंकि मोक्ष वही दे सकता है। वैष्णव इसको श्रीकृष्ण कहते हैं, शैव इसको महादेव कहते हैं, शाक्त इसे आद्या शक्ति कहते हैं, मुसलमान इसे खुदा कहते हैं और ईसाई इसी को गॉड कहते हैं।

इस तरह अध्यात्म के सर्वोच्च शिखर पर तो दो बात है ही नहीं। यह मनुष्य के ही चित्त का भ्रम है। मनुष्य का अज्ञान ही उसे भ्रमित करता है। गीता इसी भ्रम का निवारण करते हुए कहती है कि परब्रह्म एक है, सनातन, अव्यक्त है, उसका कोई नाम नहीं है (ब्रह्म का

शाब्दिक अर्थ होता है व्यापक, चारों तरफ विस्तार वाला)। इस तरह ब्रह्म का अर्थ न तो श्रीकृष्ण है न ही महादेव। केवल कम बुद्धि वाले मनुष्यों को, अज्ञान से भ्रमित जीवों को समझाने के लिए ही श्रीकृष्ण या महादेव जैसे व्यक्तिवाचक संज्ञा वाले शब्दों का प्रयोग कर लिया जाता है। अन्यथा ब्रह्म तो भाववाचक है। आपके भीतर जैसा भाव है वह वैसे ही रूप में आपको प्रत्यक्ष हो जाता है। रामकृष्ण परमहंस ने प्रत्यक्ष रूप से अलग-अलग मतों वाली साधनाएं की थी और श्रीकृष्ण, महादेव, राम, खुदा, गॉड आदि के अपने भीतर ही दर्शन भी किए थे। इसके बाद उन्होंने कहा कि ब्रह्म एक ही है।

इसे एक और उदाहरण से समझिए - श्रीकृष्ण गीता में अनेक बार कहते हैं कि धरती पर जो साधु-संत, महात्मा, योगी, फकीर आदि होते हैं वे सब मेरे ही (अव्यक्त ब्रह्म के) रूप हैं। उनमें और परमात्मा में कोई अंतर नहीं है। वह ब्रह्म स्वयं कुछ भी कराने के लिये धरती पर नहीं आता है। वह अवतार पुरुषों और संत-महात्माओं के माध्यम से ही कार्य करता है। भारत में एक घटना बहुत विख्यात है कि श्री राम के अनन्य भक्त तुलसीदास जी जब वृन्दावन गए थे तो वहाँ श्रीकृष्ण की मूर्ति में उन्हें श्रीराम के साक्षात दर्शन हुए थे। इसी भांति ब्रह्म के कृष्णावतार के दौरान हनुमान जी ने श्रीकृष्ण में अपने आराध्य श्रीराम के दर्शन किए थे। एक और उदाहरण वर्तमान युग का देखिए - रामकृष्ण परमहंस ने एक बार अपने शिष्यों के बीच में कहा कि मैं ही त्रेता का राम हूँ और मैं ही द्वापर का कृष्ण हूँ। आज मुझमें वही सनातन चेतना प्रवाहित हो गई है। तुम लोग अब आगे कभी भी शंका मत करना। ...तो बात स्पष्ट है कि यदि आप परमात्मा के अनन्य भक्त हैं, आप ईश्वर में अविचलित आस्था रखते हैं तो गीता ज्ञान आपका अवश्य ही उद्धार करेगा। यह गीता ज्ञान भी तो सनातन है, अर्थात् अनादि काल से संत-महात्माओं के माध्यम से, ऋषियों, महर्षियों के माध्यम से यह जन समाज में प्रवाहित हो रहा है। गीता में चौथे अध्याय के आरम्भ में यही शाश्वत सत्य समझाया गया है। दरअसल हम लोग जब तक त्रिगुणात्मक प्रकृति के घेरे में बंधे हुए हैं तब तक हम भ्रमित होते रहेंगे। हम ब्रह्मा, विष्णु, महेश को और अन्य देवी-देवताओं को भी अलग-अलग समझते रहेंगे। भ्रमित होने के कारण ही लोग मोहम्मद और राम को पृथक समझते हुए आपस में लड़ते रहेंगे। समस्या की जड़ खुद को देह समझना और अवतारों तथा संत-फकीरों को भी देह समझना है। हम मूसा को भी देह समझते हैं, ईसा को भी देह समझते हैं, मोहम्मद साहब को भी देह समझते हैं और श्रीकृष्ण को भी गोपियों के साथ नाचने वाले दैहिक मनुष्य मानते हैं फिर अपने-अपने भगवान, पैगम्बर या संत को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये लड़ते रहते हैं। जब एक आई. ए. एस. अधिकारी भी महादेव और श्रीकृष्ण को अलग समझने की भूल कर

सकता है तो फिर अशिक्षित या कम शिक्षित लोग धर्मान्धता से भ्रमित रहें तो इसमें क्या आश्चर्य है?

यह अज्ञान या भ्रम किसी संत-महात्मा की कृपा से या गीता जैसे शास्त्र का निष्ठापूर्वक अध्ययन करने से ही दूर हो सकता है। शास्त्र तो आपको सत्य की जानकारी देते हैं और संत सत्य के दर्शन करा देते हैं। सबको सिद्ध संत मिल जाएं यह जरूरी नहीं; इसलिये शास्त्र ही हमारा आधार है यानि अज्ञान दूर करने के लिये एक मात्र साधन है।

इस तरह स्पष्ट होता है कि आपका इष्ट चाहे जो भी हो लेकिन यदि आप गीता का पारायण करते हैं तो वह आपका अवश्य उद्धार करेगी। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि केवल ओम् के भजन से ही परम गति मिल जाती है। वे दूसरे श्लोक में कहते हैं कि ब्रह्म के तीन नाम हैं - ओम्, तत्, सत्। उधर दसवें अध्याय में कहते हैं कि मैं ही 'ओंकार' हूँ। ये तीनों दृष्टान्त सिद्ध करते हैं कि महादेव का वाचक ओम् और परब्रह्म श्री कृष्ण अलग-अलग नहीं हैं; एक ही हैं। इसलिये गीता पर शक मत कीजिए; इसे केवल अवतारी श्रीकृष्ण का उपदेश समझने की गलती भी मत कीजिए। यह तो हमारी सांस्कृतिक चेतना का सनातन ज्ञान है, जो सर्व कल्याणकारी है।

अब एक और मुख्य सवाल है कि क्या प्रारब्ध ही सबकुछ है? क्या प्रत्येक मनुष्य पूर्व कर्मों से बने संस्कारों का फल भोगने के लिये ही जन्म लेता है? क्या वह अपने जन्मजात स्वभाव का ही गुलाम है; उसके पास कोई 'फ्री बिल' (अन्य मार्ग) नहीं है? यदि वह प्रारब्ध के हिसाब से ही कर्म करने के लिये मजबूर है तो फिर जीवन का विकास कैसे होगा? विवशता में तो ठहराव है और ठहराव का अर्थ है अन्त। तो मनुष्य क्या करे?

बात ऐसी नहीं है। देखिए, देव-योनि और पशु-योनि तो भोगवादी होती है; वहाँ कर्म नहीं है। केवल मनुष्य योनि ही कर्म प्रधान है। इसी योनि में क्रिया है, गति है, आगे बढ़ने की चुनौती और पीछे लुढ़क जाने की सम्भावना। ...तो कर्म यानि गति...प्रगति...और विगति भी। मनुष्य को प्रारब्ध का फल तो अवश्य भोगना होता है किन्तु उसे विवेक भी मिला है। उसे कर्मों का संचालन करने वाली बुद्धि मिली है। अपने जीवन का सर्वोत्तम प्रबंधन करने के लिये उसके पास शास्त्रों का ज्ञान है। वह अपने जीवन की प्रगति के लिये संत-महात्माओं की कृपा प्राप्त कर सकता है। इसलिए यह समझना गलत है कि मनुष्य संस्कारगत स्वभाव का शत-प्रतिशत गुलाम है।

गीता के अनुसार भी परमात्मा की तीन शक्तियां हैं - ब्रह्म शक्ति, परा प्रकृति और अपरा प्रकृति। ब्रह्म शक्ति तो सनातन चेतना है जो कुछ नहीं करती है। परा प्रकृति जीव रूपा शक्ति है और अपरा प्रकृति भौतिक शक्ति है। जीव रूपा शक्ति को प्रभु की तटस्था शक्ति भी कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म अपने ही अंश जीव (मनुष्य) के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता है; इसीलिये वह तटस्थ है। दूसरी तरफ मनुष्य ब्रह्म और प्रकृति के बीच में है यानि ज्ञान और अज्ञान के बीच में है। वह चाहे तो प्रकृति यानि सांसारिक भोगों के अनुसार कर्म करे; इसी तरह वह चाहे तो आत्मिक ज्ञान के अनुसार अपने कर्मों का संचालन करे। अब इसे एक उदाहरण से समझते हैं - मान लीजिए कि एक मनुष्य संस्कारों के अनुसार चोर है। उसने पांच वर्ष चोरी करते-करते बिता दिए। इस दौरान उसे कई बार लोगों ने पीटा, दो-चार बार जेल भी गया और समाज में बदनामी हुई जो अलग। अब उसकी बुद्धि ने कहा कि, देख चोरी की आदत छोड़ दे....इसके कारण कितना कष्ट उठाना पड़ता है....तेरे कारण माता-पिता व भाई-बहिनों की भी बदनामी है....इसलिये तू मेहनत-मजदूरी करना शुरू कर दे। यही बुद्धि 'फ्री बिल' है यानि कर्म की स्वतन्त्रता। गीता में दूसरे अध्याय का 47वां श्लोक तो विश्व विख्यात है कि कर्म करना तेरे वश में है; इसलिये तू कर्त्तव्य कर्म कर, केवल नियत कर्म कर अर्थात् स्वधर्म वाले कर्म कर। फिर चौथे अध्याय में भगवान कहते हैं कि यदि तुझे कर्म संबंधी नीति का ज्ञान नहीं है तो किसी संत-महात्मा के पास जा कर सीख ले। इसी संदर्भ में एक और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि भगवान स्वयं आत्मा रूप से हम सबके भीतर बैठा हुआ है। वह प्रत्येक मनुष्य को कोई सा भी गलत काम करने से रोकता है। इसे हम आत्मा की आवाज कहते हैं। लोक समाज में भी अक्सर यह कहा जाता है कि मन कहे सो मत करो, आत्मा कहे सो करो। इस तरह यदि हम आत्मा की आवाज सुनने का अभ्यास कर लें और बुद्धि से सोच-विचार कर कार्य करें तो अपने जीवन को प्रगति दे सकते हैं।

प्रारब्ध के अनुसार तो मनुष्य को माता-पिता, परिवार और आयु-जीवन के ये तीन पक्ष मिलते हैं बाकी सम्पूर्ण जीवन का रूप वह स्वयं ही तय करता है। गीता में कहा गया है कि मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र और शत्रु दोनों है। यदि भगवान का यह कथन सत्य है तो प्रारब्ध की बाध्यता कहाँ है! प्रत्येक मनुष्य में प्रकृति के तीनों गुण होते हैं, बुद्धि भी होती है। इसलिए अच्छी संगति, शिक्षा, शास्त्र और संतों की सोहबत से वह स्वयं में सात्विक गुण और सात्विक बुद्धि विकसित कर सकता है। किन्तु छोटे-छोटे सुखों का लोभी मनुष्य और परिश्रम से जी चुराने वाले मनुष्य सहज ही गलत राह पर चल देते हैं। फिर अपनी सफाई में तर्क देते हैं कि उनका प्रारब्ध ही ऐसा था, वे क्या करें! खैर, तो स्पष्ट बात यह है कि मनुष्य प्रारब्ध का नहीं बल्कि अपनी सोच का गुलाम है। प्रत्येक कार्य पहले विचार

रूप से मस्तिष्क में उभरता है। फिर व्यवहारिक रूप ग्रहण करता है। अत: विचार को व्यवहार तक लाने से पहले सोचने के लिये बुद्धि सभी को मिली है। आपका दायित्व है कि अपनी बुद्धि का उचित उपयोग करें। बुद्धि अच्छे-बुरे दोनों पक्षों को सामने रख देती है। स्वभाव के अनुसार मनुष्य किसी एक पक्ष का चयन करता है यानि वह बुराई की तरफ भी जा सकता है लेकिन इच्छा शक्ति के सहारे वह केवल अच्छे पक्ष पर स्थिर रह कर कर्म कर सकता है। कुल मिलाकर स्पष्ट होता है कि गीता मनुष्य को कर्म संबंधी स्वतन्त्रता देती है - कर्मयोग, निष्काम कर्म, अकर्म, सात्विक कर्म आदि सारे विषय इसी बात के प्रमाण हैं। और यदि मनुष्य से यह सब नहीं हो पाता है तो 18वें अध्याय के 66वें श्लोक को आत्मसात कर लीजिए - तू कर्म और धर्म संबंधी सारी आशंकाओं को और नियमों के निर्वाह संबंधी बातों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आ जा। मैं तेरे कर्मों का संचालन इस तरह करूंगा कि तू सब पापों से मुक्त हो जाएगा। तू बिल्कुल भी चिन्ता मत कर। यह कितना बड़ा आश्वासन है! यदि तुम्हारे मन में यह बात बैठ गई है कि तुम अपने प्रारब्ध से जकड़े हुए हो तो फिर स्वयं को श्रीकृष्ण की शरण में छोड़ दो, अर्थात् कर्ता और भोक्ता की जगह से स्वयं को हटाकर वहाँ श्रीकृष्ण को बैठा दो; तुम्हारा सर्व कल्याण होगा।

एक और प्रश्न अक्सर किया जाता है कि जो शोषित हैं, दमित हैं, निर्धन हैं या सांसारिक दृष्टि से बदहाल हैं वे क्या करें? वे गीता के कर्मयोग का अपने जीवन में किस तरह व्यवहार करें। जिन्हें चौबीसों घंटे रोजी-रोटी की चिंता रहती है वे गीता का पारायण कैसे करें? ऐसे करोड़ों लोग हैं जो अनेक तरह की दुश्चिन्ताओं से त्रस्त रहते हैं। उनके लिये गीता क्या कहती है? पहली बात तो यह है कि गीता केवल सम्पन्न या समृद्ध लोगों के लिए नहीं है। यह तो प्रत्येक जाति व प्रत्येक वर्ग के मनुष्यों का कल्याण करने वाला ग्रंथ है। शास्त्रीय दृष्टि से भी यह स्मृति ग्रंथ है, जिसका कोई भी मनुष्य पाठ कर सकता है। दूसरी बात यह है कि गीता में बताया गया कर्त्तव्य कर्म का मार्ग किसी भी परिस्थिति में अव्यवहार्य नहीं है। हमारे समाज में भक्ति और कर्मवाद को सिद्ध कर लेने वाले तिरस्कृत वर्ग के लोगों के भी उदाहरण हैं। ...सदना कसाई, नामदेव छीपा, बारामती वैश्या, धन्ना जाट, रैदास चमार, कबीर जुलाहा आदि के दृष्टान्त तो बहुत अधिक चर्चित हैं। भक्त माल ग्रंथ में एक कसाई की कथा है जो शालिग्राम (काला पत्थर) से माँस तौलता था; फिर भी तर गया। ऐसे ही बारामती नामक वैश्या रजस्वला थी तो भी भगवान ने उसके हाथ से अपनी प्रतिमा पर मुकुट धारण किया। इससे सिद्ध होता है कि भक्ति में गरीबी या बदहाली बाधक नहीं है। गीता कहती है कि कोई सा भी कर्म अपने आप में अच्छा या बुरा नहीं होता है; कर्ता की नीयत ही उसे वैसा बना देती है। ...जो लोग आर्थिक तंगी से लाचार हैं उनके लिये गीता कहती है कि 1. सदैव श्रीकृष्ण को याद रखो। 2. खरी कमाई

की रोटी खाओ और 3. मनोविकारों को शांत रखने का प्रयत्न करते रहो। देखो, यदि तुम कंगाल हो तो केवल गीता को ठुकरा देने से तो निहाल नहीं हो जाओगे। इसके विपरीत गीता के अनुसार यदि अपना आचरण शुद्ध रखोगे तो हो सकता है कि भगवान सुदामा की तरह तुम्हारा भी कभी हाथ पकड़ लें। मतलब यह कि ईश्वर को नकारने से तो हालात बदलेंगे नहीं किन्तु स्वीकार करने से अवश्य ही बदल सकते हैं। अतः बहाना मत बनाओ कि बदहाली से परेशान लोग गीता ज्ञान नहीं अपना सकते हैं। रैदास चमार भी निहायत गरीब था, सदना कसाई भी फटेहाल था, गोपाल की मां भी बहुत गरीब थी। इन सबको आज हम श्रद्धापूर्वक याद करते हैं; क्यों? इसलिए कि निर्धनता में भी इन्होंने प्रभु की भक्ति को नहीं छोड़ा था। इसलिये अपनी दुरावस्था को कर्त्तव्य मार्ग के निर्वाह में बाधक मत समझो। ईश्वर में आस्था से आत्म बल बढ़ता है और इसी आत्म बल के सहारे मनुष्य अपने हालात बदल सकता है। गीता यही समझाती है।

जय श्री कृष्ण !

लेखक परिचय - श्री शिव शर्मा

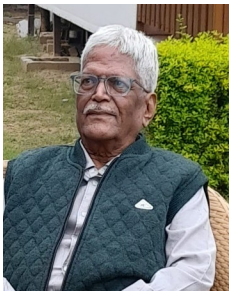

आध्यात्मिक विषय पर श्री शिव शर्मा की लगभग छब्बीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। अध्यापन के क्षेत्र में अपनी अमूल्य सेवाएँ देने के बाद आप राजकीय महाविद्यालय, देवली (टोंक) के हिन्दी विभाग से सेवानिवृत्त हुए। आपने अध्ययन, लेखन एवं प्रकाशन की चालीस वर्षीय लंबी यात्रा तय की है। पत्रकारिता में शताधिक लेख तथा फीचर्स प्रकाशित हो चुके हैं साथ ही स्तम्भ लेखन एवं सम्पादन के क्षेत्र में आप अपने उल्लेखनीय कार्य के लिए विख्यात हैं। जिला पत्रकार संघ (अजमेर) एवं एन. एम. एफ आई. (ऋषिकेश) द्वारा सम्मानित किए जा चुके हैं।

प्रकाशित पुस्तकें: -

1.अजमेर; इतिहास एवं पर्यटन 2.पुष्कर; अध्यात्म एवं इतिहास 3. हमारे पूज्य गुरुदेव 4. दशानन चरित 5. गुरु भक्ति की कहानियाँ 6. मोक्ष का सत्य 7. सूफी संत और उनकी कथाएँ 8. कर्मण्येवाधिकारस्ते 9. गीता पाप मोचनी 10. गीता में जीवन की पूर्णता 11. सद्गुरु शरणम् 12. नारी मुक्ति 13.अवतार का सत्य 14. श्रीकृष्ण से मुलाकात 15. गीता - 150 प्रश्नोत्तर 16. एक श्लोक की गीता 17. संत श्री सेवाराम 18. रूहानी पुरुष 19. श्री राम चरित 20. श्रीकृष्ण जयते 21. श्री हनुमान चालीसा - विस्तृत व्याख्या 22. अजमेर के उवैसी सूफी संत 23. सूफी फकीर - हज़रत रामदत्त मिश्रा 'उवैसी' 24. गुरुदेव के आध्यात्मिक पत्रों द्वारा - मार्गदर्शन 25. सत्संग

आगामी पुस्तक - गुरु के साथ मनोसंवाद।